अभिनवगुप्त प्रणीत

परमार्थसार

[सटीक अनुवाद एवं सटिप्पण अध्ययन]

डॉ० कमला द्विवेदी
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

प्रो० डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एवं निदेशक, स्नातकोत्तर मानविकीपीठ
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

अभिनवगुप्त प्रणीत

परमार्थसार

[सटीक अनुवाद एवं सटिप्पण अध्ययन]

डॉ० कमला द्विवेदी
सहायक प्रोफेसर संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

प्रो० डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग एवं
निदेशक, स्नातकोत्तर ज्ञानविकीपीठ
राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
दिल्ली : वाराणसी : पटना : मद्रास

प्राक्कथन

अभिनवप्रणीत परमार्थसार काश्मीर शैवदर्शन का प्रवेशद्वार है। अत्यन्त सरल शब्दों में परमार्थ शिव के स्वरूप का, उसके द्वारा अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वा का प्रसार या प्रकाशन, प्रमाताओं के बन्धन तथा अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति से मोक्ष का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। वस्तुतः सांख्य तथा वैष्णव दृष्टि से लिखे हुए प्राचीन ग्रन्थ का त्रिक दर्शन की दृष्टि से परिष्कार कर अपने सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के लिये महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस आधारकारिका (शैव मुनि द्वारा प्रणीत मूलसिद्धान्त के प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ) को अपनाया था। नाट्य साहित्य एवं दर्शन के अप्रतिम मनीषी आचार्य अभिनवगुप्त किसी दूसरे के द्वारा लिखे हुये ग्रन्थ को स्वमत के प्रचार के लिये अपनायें, यह कुछ विचित्र लगता है। किन्तु भारतीय साहित्यपरंपरा के मम को जो पहचानते हैं उन्हें यह बात इतनी विचित्र नहीं लगेगी। भारतीय साहित्यकार किंवा शास्त्रकार का लक्ष्य ज्ञान पर अपना अधिकार या स्वामित्व स्थापित करने का नहीं था अपितु ज्ञान के सामाजिक स्वरूप या अवदान को स्वीकार करते हुये उसे जनहित की दृष्टि से सभी तक पहुँचाना उसे अपना कर्तव्य लगता था। यही कारण है कि आचार्य शंकर जैसे महान् प्रतिभाशील कृतिकार भी जो लिखते थे उसे संप्रदाय से प्राप्त मानते थे। श्रुतियों तथा शास्त्रों में ज्ञान को पूर्वतः स्थापित मानते थे। उन्हें ज्ञान के कृतित्व का दंभ न था। विचार या ज्ञान की धारा को निरन्तर प्रवाहित रखने के लिये वे सचेष्ट थे ताकि संप्रदाय का विच्छेद न हो—चाहे उनका नाम रहे या न रहे। रचना तथा सर्जनात्मकता के प्रति समर्पण का यह भाव भारतीय साहित्य की अपूर्व विशेषता है। रामायण, महाभारत में बहुत कुछ प्रक्षिप्त है, कालिदास के नाम से अनेक अकालिदासीय रचनाएँ प्रचलित हैं, व्यास का नाम मानकर न जाने कितने काव्यकारों ने पुराणों तथा उपपुराणों का महान् वितान खड़ा कर दिया है। यदि अपने नाम का ही मोह होता और ज्ञान के प्रति सर्जना के प्रति समर्पण का महाभाव न होता तो निश्चित ही संस्कृत में विराट् अनाम साहित्य न बन पाता। इसी ने ज्ञान की धारा को निरन्तर बनाये रखा है। यह अलख जगाये रखना ही भारतीय परंपरा के कृतिकार ने अपना कर्तव्य माना है। इसीलिये आचार्य शंकर

भाष्य के साथ-साथ जनसाधारण में ज्ञान-धारा के निरन्तर प्रवाह के लिये चर्पटमंजरी जैसी छोटी-छोटी रचनाएँ लिखते हैं, तुलसी जैसे महाकवि प्राचीन काव्य-धारा के सुभाषितों को अपनी रामायण में रूपान्तरित करते हैं, गुरु नानक सन्तों की वाणी को गुरु ग्रंथ में सामाजिक स्वामित्व मानकर स्थान देते हैं और अभिनवगुप्त जैसे महान् कृतिकार प्राचीन ग्रंथ का परिष्कार कर उसे अपने दर्शन का प्रचारमाध्यम बनाते हैं।

काश्मीर ने भारत को सौंदर्य के साथ-साथ उसका शास्त्र दिया है और साथ ही उसे और अपने को देखने की नई दृष्टि भी दी है। काव्य, काव्यशास्त्र एवं शैवदर्शन काश्मीर की अपूर्व देन है। जैसाकि हम सभी जानते हैं—आध्यात्मिक ज्ञान किंवा दर्शन की दो धाराएँ इस देश में प्रवर्तित हुई थी—एक थी श्रुतिमूलक और दूसरी आगम-मूलक। आगम-निगम की स्वतंत्र धाराओं का महान् आचार्यों ने समय-समय पर समन्वय भी किया। काश्मीर शैवदर्शन में यह समन्वय ईश्वराद्वयवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर या शिव ज्ञान एवं क्रिया का प्रकाश एवं विमर्श का नित्य सामरस्य है। वह ज्ञाता कर्ता है। वेदान्त परमतत्त्व को चेतन मानता है और क्रिया या विकार को मिथ्या। सांख्य के अनुसार पुरुष चेतन है और प्रकृति क्रियाशील। इन दोनों दर्शनों के अनुसार ज्ञान (चैतन्य) एवं क्रिया एक साथ नहीं रहती। जो जानता है वह करता नहीं और जो करता है वह जानता नहीं। ज्ञान एवं क्रिया की व्यधिकरणता का परिणाम यह हुआ कि धर्माधर्मादि का वास्तविक कर्तृत्व पुरुष या जीव का हुआ ही नहीं अतः सारे नैतिक प्रश्नों के संबंध में दायित्व हीनता या पाखण्ड साधा जा सकता था। ब्रह्म को सत्य और जगत् को माया या मिथ्या मानने से सामाजिक कर्तव्य-बोध भी शिथिल हुआ। सभी शिवमय और ज्ञाता कर्ता के रूप में ईश्वर के साथ सभी का अद्वय स्वीकार करने वाले काश्मीर के ईश्वराद्वयवाद ने ईश्वर की वास्तविक कर्तृता की व्याख्या के रूप में स्वातन्त्र्यवाद का भी प्रतिपादन किया। ईश्वर अपनी स्वतन्त्रता से, स्वेच्छा से सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (तिरोधान) एवं अनुग्रह (पंच कृत्य) निरन्तर करता रहता है। शिव का कर्तृभाव ही शक्तितत्त्व है। इस प्रकार क्रिया विकार या विवर्त न होकर वह परमात्मा के स्वतन्त्र सामर्थ्य को अभिव्यक्त करती है। न्याय के परमात्मा में ज्ञान, क्रिया (प्रयत्न) आदि समवेत हैं, अतः न्याय

का ईश्वर भी ज्ञाता एवं कर्ता है किन्तु उसका ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व अन्याधीन या परतन्त्र है। जीव के अदृष्ट एवं परमाणु आदि उपादान कारणों के परतन्त्र रहकर ही वह सृष्टि करता है। स्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार न करने वाले नैयायिक का ईश्वर इस प्रकार 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' नहीं है। वह मात्र संयोजक-वियोजक है, वास्तविक ईश्वर नहीं है। वस्तुतः ईश्वर की तो पूर्ण कल्पना शैवदर्शन में (और इसी प्रकार वैष्णवदर्शन में) हमें मिलती है। वह निगममूलक या नास्तिक दर्शनों में प्राप्त नहीं होती। ईश्वर जिस प्रकार वास्तविक ज्ञाता एवं कर्ता है और इस नाते निर्माणादि में स्वतन्त्र है उसी प्रकार शिव के स्वात्मभूत हम सब परिमित प्रमाता भी। शिव सत्य है, हम सब सत्य हैं, जगत् सत्य है। हम सत् ही नहीं अपितु स्वतन्त्र भी हैं। परमार्थ का यह बोध हमें जीवन और जगत् को पहचानने की नई दिशा दिखाता है। काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि वेदांत, सांख्य, न्याय आदि से भिन्न है और इसकी वैदिक दर्शन से संगति भी है। उपनिषदों को पढ़कर हमें संसार की पूर्णता का भान होता है—पूर्णमदः पूर्णमिदम्। प्रतीत होता है कि उसी ईश्वर से यह सब संसार परिव्याप्त है—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। यही अनुभूति परमार्थसार के दर्शन में होती है। उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता की संग्राहिका दृष्टि से परमार्थसार का घनिष्ठ सौहार्द दिखाई देता है। टीका में, अनुवाद में तथा टिप्पणियों में इस सौहार्द की अविरल व्याख्या है। परमार्थसार बहुत वर्षों से अनुपलब्ध है। इसकी विवृति टीका मूल रूप में दे दी जाती तो संस्कृत के पाठकों को और भी सुविधा होती। भूमिका में परमार्थसार की विषयवस्तु की मीमांसा के साथ काश्मीर शैवदर्शन की आचार्य परम्परा का उल्लेख उपयोगी होगा। प्राक्कथन लिखने का आग्रह प्रकाशक का था अतः और किसी को नहीं तो उन्हें धन्यवाद देना आवश्यक है।

रामचन्द्र द्विवेदी
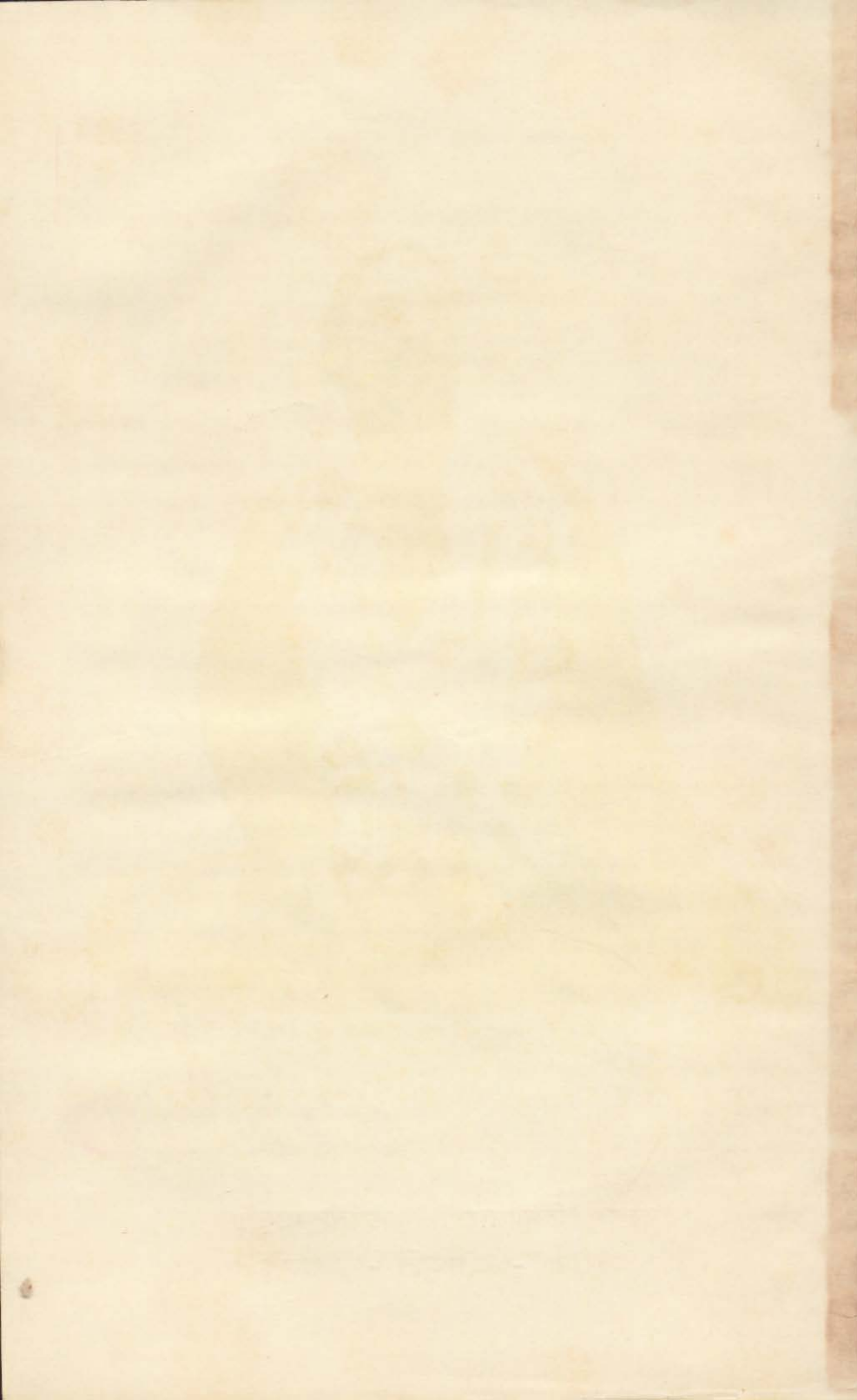
दो शब्द

आचार्य अभिनवगुप्त के जीवन एवं दर्शन का किंवा परमार्थसार में प्रतिपादित विषयों का विवेचन इस प्रस्तावना का उद्देश्य नहीं है। अभिनवगुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सांगोपांग मीमांसा डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। यहाँ अभिनवगुप्त प्रणीत परमार्थसार तथा उसकी योगराज-कृत विवृति टीका के संबन्ध में दो शब्द लिखना अनुचित न होगा।

प्रस्तुत परमार्थसार का अंग्रेजी अनुवाद डा० बार्नेट ने 'जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी में १९१०-१५ के बीच प्रस्तुत किया था। उसके बाद लिलियेन सिलबर्न ने फ्रेन्च अनुवाद एवं टिप्पणी के साथ इसका संस्करण १९५७ में प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्त का परमार्थसार एक प्राचीन ग्रन्थ 'आधारकारिका' का शैवदर्शन के अनुसार रूपान्तरण है जिसमें अधिकांश भाग प्राचीन पुस्तक से संग्रहीत है किन्तु कुछ अंश बढ़ाये और परिवर्तित भी किये गये हैं। आदिशेष के परमार्थसार को राघवानन्द के विवरण के साथ टी० गणपतिशास्त्री ने अनन्तशयनसंस्कृत ग्रन्थावलि १२ में संपादित किया है। यह शिवके विपरीत विष्णु को परम तत्त्व घोषित करता है।[1]

जे०सी० चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'काश्मीर शैविज्म (पृ०१०-१२) में तथा डा० पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'अभिनवगुप्त: एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसफिकल स्टेडी' (पृ० ६४-६९) में यह सप्रमाण प्रतिपादित कर दिया है कि विष्णुस्तवनपरक, प्रकृतिपुरुष के विवेक को मानने वाला वेदान्ती परमार्थसार अभिनवगुप्त के परमार्थसार का आधार है। यह बात अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दी है कि आधारकारिकाओं में जिस विषय का प्रतिपादन था उसी को शिवदर्शन के अनुसार कहा गया है। योगराज ने इसको स्पष्ट करते हुये कहा है कि सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृतिपुरुष के विवेकज्ञान से परमब्रह्म की प्राप्ति को मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित करने वाला एक और परमार्थसार नामक ग्रन्थ है जिसे अनन्तनाथ (आधार

---

१. त्वामेव विष्णुं शरणं प्रपद्ये –१

शेष=अनंत) ने बनाया था। उसीको परमाद्वय शैवदर्शन की दृष्टि से अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया है। परमार्थसार को ही 'परमार्थसंग्रह' या 'परमार्थसार संक्षेप' के नाम से डा० पाण्डेय ने भी स्वीकार किया है (देखिये पृ० २९-३०)। और मुझे प्रतीत होता है कि अभिनव गुप्त के ग्रंथों की सूची में १० वें स्थान पर जिस परमार्थसार और ४० वें स्थान पर जिस परमार्थसंग्रह को रखा है, वे दोनों एक ही हैं।

परमार्थसार के टीकाकार योगराज क्षेमराज के शिष्य हैं जो वितस्तापुरी में रहते थे, विरक्त और तपस्वी थे। उन्होंने अपनी टीका में शैवदर्शन के ग्रन्थों के अतिरिक्त उपनिषदों तथा गीता के आधार पर शिवाद्वय की स्थापना की है। उनकी विवृति प्रसादगुणसम्पन्न है, कभी-कभी उसमें पुनरुक्ति है और साधारण शब्दों की व्याख्या भी अनेक है। मन्त्र सम्प्रदाय के रहस्य का उन्मीलन करने वाले अंश भी इसमें अनेक हैं। जैसेकि देखिये ८० वीं कारिका की व्याख्या तथा प्रकाशित पुस्तक का पृ० १५०। उन्होंने कदाचित् परमगुरु अभिनवगुप्त से भी ज्ञान प्राप्त किया था।

अभी तक विवृति के साथ परमार्थसार का अनुवाद हिन्दी में नहीं हुआ था। यह प्रथम प्रयास है। भूमिका में अध्ययन प्रस्तुत है।

इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करते समय सर्वप्रथम मुझे अपने निर्देशक डॉ० विष्णुराम नागर भूतपूर्व रीडर उदयपुर विश्वविद्यालय का सादर स्मरण आता है। मैं उनकी हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन वाराणसी में हुआ। इसके इस रूप में प्रकाशन का सारा श्रेय डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, उपाचार्य, उच्चतर तिब्बती अध्ययन संस्थान, सारनाथ को है। उनके उज्ज्वलतर भविष्य की मैं परमात्मा से प्रार्थना करती हूँ।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए मोतीलाल बनारसीदास के के श्रीजैनेन्द्र प्रकाश जैन मेरी शुभकामनाओं के अधिकारी हैं।

कार्तिक पूर्णिमा **कमला द्विवेदी**

---

१. देखिये परमार्थसार, कारिका ३

भूमिका

डॉ० (श्रीमती) कमला द्विवेदी

परमार्थसार का प्रतिपाद्य :

अभिनवगुप्त के परमार्थसार में प्रथमतः परमतत्त्व शिव के स्वरूप का निरूपण है। वह शिव अपनी स्वातंत्र्यशक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथ्वी इन चार अण्डों में सृष्टि का निर्माण करता है। इसी अण्डचतुष्टय के अन्तर्गत भोक्ता एवं भोग्य अथवा प्रमाता एवं प्रमेय किंवा द्रष्टा एवं दृश्य का समग्र विश्व अन्तर्भूत है जिसप्रकार निर्मल स्फटिक मणि विविध वर्णों का रूप ग्रहण कर लेती है उसी प्रकार महेश्वर भी विविध रूपों को धारण कर लेता है। स्वयं निर्विकार होने पर भी शिव जल में प्रतिबिंबित चन्द्र बिम्ब की भांति, चल या स्थिर प्रतीत होता है। इस महेश्वर का प्रतिबिम्बन सर्वत्र होने पर भी इसका दर्शन बुद्धि-दर्पण में ही हो पाता है, जैसेकि अदृश्य राहु का चन्द्रबिम्ब में। शिव के शक्तिपात या अनुग्रह से विमल बुद्धि दर्पण में शिव प्रकाशित रहता है। इसी परतत्त्व में ३६ तत्त्वो का जगत् प्रतिष्ठित है। शिव एवं सृष्टि का संबंध विम्ब एवं प्रतिबिम्ब की भांति है। दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर एवं ग्राम आदि परस्पर भिन्न होते हुए भी दर्पण में अविभक्त होते हें साथ ही दर्पण से भिन्न भी होते हैं। इसी प्रकार यह जगत् तत्त्वतः शिव से अभिन्न होने पर भी एक दूसरे से तथा शिव से भिन्न रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार १-१३ कारिकाओं में शिव के स्वरूप और सृष्टि के साथ उसके संबंध का निरूपण कर १४-२२ कारिकाओं में ३६ तत्त्वों का निरूपण किया गया है। जिस प्रकार छिलका चावल के दाने को ढक लेता है उसी प्रकार प्रकृति से प्रारम्भ कर पृथ्वी तक की सृष्टि शिव को उसी की इच्छा से आवृत कर लेती है। आत्मा तीन कोषों से ढपी हुई है। इसी को त्रिविध मल भी कहा जाता है। आणवमल अत्यन्त सूक्ष्म तथा अन्तरंग है क्योंकि वह शिव के स्वरूप का संकोच या स्वरूप हानि करता है। मायीय मल से ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व में भेद की प्रतीति होती है। तीसरा मल कार्म है। जो कि स्थूल तथा वाह्य है और यही संसार का प्रमुख कारण है। इसी से शरीर, विषय तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः यह त्रिविध मल अज्ञान का ही

पर्याय है जो एकत्व में अनेकत्व की प्रतीति कराता है। २४-२५ कारिकाओं में मल के निरूपण के बाद कारिकाकार ने स्पष्ट किया है कि सभी कुछ शिव की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं[१] (२६), विज्ञान अन्तर्यामी आदि के भेद व्यवहार मात्र है, उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है (२७), वह शिव बन्धन एवं मोक्ष की क्रीडा मदारी की तरह से करता रहता है (३२,३३) सृष्टि, स्थिति, संहार, जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति से वह परे है अतः वह तुरीयधाम है जिसमें ये तीनों अवस्थाएँ प्रकाशित रहतो हैं (३४), वह शिव मायीय विकारों से उसी प्रकार अछूता रहता है जैसे कि आकाश धूल आदि से (३६), वह अपने जीवों के मनोविकारों से भी वस्तुतः प्रभावित नहीं होता (३८), वही भ्रम (अनात्मा में आत्माभिमान और आत्मा में अनात्माभिमान) को नष्ट करता है (३९-४०), द्वैत विकल्प को नष्ट कर अद्वैत की भावना से शिवस्वरूप की प्राप्ति का विवेचन ४१-५२ कारिकाओं में किया गया है। जिस प्रकार पानी-पानी में अथवा दूध दूध में मिल जाता है उसी प्रकार योगी ब्रह्म में लीन हो जाता है उसे शिवमयता की स्थिति में न शोक होता है न मोह और वह अकुतोभय हो जाता है (५८) ।

मिथ्याज्ञान से कर्म का फल होता है और ज्ञान से कर्म का विनाश होता है (५३-५७), ज्ञान की महिमा का प्रतिपादन अथवा ज्ञान के प्रदीप्त हो जाने पर ज्ञानी का कर्म फल उत्पन्न नहीं करता है, इस विषय का विवेचन (६२-६७) कारिकाओं में उपलब्ध होता है। वस्तुतः अज्ञान, भ्रम अविद्या या माया (१५) के कारण ही ग्राह्य—ग्राहक का भेद होता है (२५) भ्रम में महान् शक्ति है (२८), उसी से धर्माधर्मादि भेदों की उद्‌भावना होती है (२९), उसके दो रूप हैं आत्मा में अनात्मा का अभिमान (३०) तथा अनात्मा में आत्माभिमान (३१), मिथ्याज्ञान से ही शुभाशुभ कर्मफल होता है (५३) तथा जन्म-मरण की प्राप्ति होती है (५४)। परमार्थसार में अत्यन्त विस्तार के साथ योगी,ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष का वर्णन ६८-१०२ कारिकाओं में उपलब्ध होता है। अन्त की तीन कारिकाओं में सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देकर ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

कश्मीर शैवदर्शन के छत्तीस तत्त्व :

शिव से प्रारंभ कर पृथ्वी तत्त्व तक यह जगत् छत्तीस तत्त्वों से संघटित है—षट्त्रिंशदात्म जगत्। तस्य भावः तत्त्वम्। इन्हें तत्त्व इसीलिए

---

१. कोष्ठक में दी हुई संख्या कारिका संख्या सूचित करती है।

कहा गया है क्योंकि ये सारे उसी शिव (तस्य) की ही आत्माभिव्यक्ति (भावः) है। तथा उसी का विस्तार या व्यापन है–तननाद् व्याप्तृभावतः। इन छत्तीस तत्त्वों में प्रथम दस–शिव, शक्ति, सदाशिव, सद्विद्या, कला, विद्या, काल, राग तथा नियति काश्मीर शैव दर्शन की अपनी कल्पना है। इनके बाद वेदान्त में प्रचलित माया ११ वां तत्त्व है। इनके अतिरिक्त सांख्य में स्वीकृत पच्चीस तत्त्वः पुरुष (१) तथा प्रकृति (२)और प्रकृति के २३ परिणामः बुद्धि, अहंकार, मन (अर्थात् त्रिविध अन्तःकरण) ५ बुद्धीन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), ५ कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पाँच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) तथा ५ महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) शैवदर्शन में स्वीकृत है। माया शिव का अन्तरंग कंचुक है तथा प्राकृतिक सर्ग (प्रकृति से प्रारंभ कर पृथ्वी पर्यन्त तक की सृष्टि) उसका बाह्य कंचुक है। यह बाह्य देहरूप प्राकृतिक कंचुक ही कार्म मल है। मायीय तथा प्राकृतिक (कार्म) कंचुक, कोश या मल के अतिरिक्त परम सूक्ष्म कोश आणव मल कहलाता है। ये त्रिविध मल तत्त्वों के ही अन्तर्गत हैं उनसे पृथक् नहीं हैं। शिव ज्ञान है, मल अज्ञान है। मल ही संसार का मूल है। आणव मल से ज्यों ही ज्ञान में स्वातन्त्र्य की तथा स्वातन्त्र्य में ज्ञान की हानि होती है त्यों ही सृष्टि का प्रथम स्पदन होता है।

छत्तीस तत्त्वों में शिव को परिग्रहीत करके कुछ आचार्य परमशिव को सैंतीसवां तत्त्व मान लेते हैं जो सर्वथा निःस्पद रहता है, कोई इसे परम भैरव की संज्ञा देते हैं। प्रथम पाँच तत्त्वः शिव,शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा सद्विद्या में इदन्ता अथवा विषयता का उल्लेख नहीं होता अतः इन्हें शुद्ध अध्वा और शेष ३१ तत्त्वों को अशुद्ध अध्वा कहा जाता है। यद्यपि माया वेदान्त से तथा २५ तत्त्व सांख्य-संप्रदाय से शैवदर्शन में लिये गये हैं किन्तु उनका तात्त्विक अन्तर यह अवश्य याद रखना चाहिए कि ये सभी तत्त्व शिव के स्वातन्त्र्य तथा लीला के अभिव्यञ्जक हैं। नट की भाँति शिव विभिन्न उच्चावच ज्ञानाज्ञानरूप, विषय - विषयिरूप सूक्ष्म - स्थूलरूप भूमिकाओं में स्वयं अवतीर्ण होता है—चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः (प्रत्यभिज्ञाहृदय)। इससे विपरीत वेदान्त में ब्रह्म न तो स्वतन्त्र है और न माया उसकी शक्ति है। सांख्य की प्रकृति भी निर्गुण, निरुपकारी, निःसंग पुरुष से स्वतन्त्र रह कर अंधे जगत् का निर्माण करती है। पर शैवदर्शन के अनुसार यह सारा

प्राकृतिक संसार भी उसी चेतन की आत्माभिव्यक्ति है। उसी की शक्ति का स्फार है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया की प्रमुख और शेष अनन्त शक्तियों से संपन्न ईश्वर विना किसी सहायता के विना किसी भित्ति के जगच्चित्र का निर्माण करता रहता है। वह अपूर्व कलाकार है जो अपनी मानसी कल्पना से जैसा चाहता है वैसा संसार अपनी लीला के लिये अपनी स्वतन्त्रता से रच देता है। इस प्रमुख सैद्धान्तिक दृष्टि को स्वीकार करने के बाद वेदान्त-सांख्य सम्मत तत्त्व चक्र का निरूपण एक जैसा है। शेष दस तत्त्वों का संक्षेप में निरूपण कर देना उचित होगा।

शिव तत्त्वः

ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता, चिरस्वरूपता, पूर्णअहंता के पर्याय हैं। पूर्ण अहन्ता ही शिवत्वं है। शिव को परासंवित्, भैरव किंवा परम-तत्त्व भी कहते हैं। यह निर्विकल्पक एवं स्वतंत्र है। प्रत्येक जीव में रहने वाला ही आत्मतत्त्व ही शिवतत्त्व है। एक एवं अद्वय संवित् ही प्रमाता एवं प्रमेय आदि रूपों में अवभासित होती है। यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है। एकही संवित् का अनेक रूपों में अवभासन ही उसका परमार्थ है जो उसी प्रकार उसकी एकता को भंग नहीं करता जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली तरंगें समुद्र की एकता को भंग नहीं करती हैं। परमशिव जगत् की प्रत्येक वस्तु में, अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति के कारण भासित होता है जैसाकि परमार्थसार में उल्लेख है—

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्
इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितम् अन्तशक्तिपरिपूर्णम् ॥
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
यत्परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत् ॥

अनन्योन्मुख स्वात्म-विश्रान्त आनन्द रूप परमशिव में जब प्रकाश-रूपता और विमर्शरूपता प्रकाशित होती है तभी 'शक्तिमत्' और 'शक्ति' अथवा विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय इन दो स्वरूपव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग सम्भव है। प्रकाश विमर्श से अनुप्राणित है विमर्श प्रकाश से। 'षट्त्रिंशत्-तत्त्व संदोह' में कहा गया है कि विश्वोन्मीलन की आद्या इच्छाशक्ति ही शिवतत्त्व है इसी को स्पन्द कहते हैं। विश्वोन्मीलन के प्रति परमशिव की इच्छा की उन्मुखता से ही उसके दो स्वरूपों अर्थात् विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता का आभास होने लगता है। विश्वोत्तीर्णता उसकी

प्रकाशरूपता है और विश्वमयता विमर्शरूपता। प्रकाश का विमर्श (बोध) उसके शिवरूप की अभिव्यक्ति है और विमर्श का प्रकाश (अभिव्यक्ति) उसके शक्तिस्वरूप की। परासंवित् शिव एवं शक्ति का अद्वय रूप है अर्थात् शिव तथा शक्ति का सामरस्य है। शक्ति के बिना शिव शव है। इकार शक्ति का वाचक है:—'इकार: शक्ति:'। और शिव के बिना शक्ति का अस्तित्व नहीं है:—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥

शिवतत्त्व पूर्ण अहंता का प्रतीक है। यह शिवावस्था में इदन्ता का या किसी भी प्रकार के भेद का आभासन नहीं होता। शिवतत्त्व प्रमाताओं के अन्तस् में अहंता की अनुभूति के रूप में विद्यमान है अत: मुक्त पुरुष को शिवोऽहम्' की सहज प्रतीति होती है। इस अवस्था में ज्ञान और क्रिया का सर्वथा अविभाग रहता है इस अवस्था में ज्ञान और क्रिया की अविभक्त अवस्था ही शिवतत्त्व है। आत्मवादी दर्शन के अनुसार इसे परम आत्मा किंवा परमेश्वर कहा जा सकता है। यह शिवतत्त्व विश्वोत्तीर्ण होने पर भी अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा समस्त विश्व को अवभासित कर विश्वरूप हो जाता है। इस प्रकार शिवतत्त्व मूलत: समग्र पदार्थों एवं प्रमाताओं का मूलाधार है उसी से समग्र विश्व का प्रकाशन, आभासन या उन्मीलन हुआ है। विभिन्न रूपों एवं आकारों में विभक्त यह विश्व सदा शिवतत्त्व में प्रतिबिम्बित रहता है। शिव सृष्टि क्रममें बिम्ब है और समग्र विश्व उसी का प्रतिबिम्ब है। शिवतत्त्व, की दशा का अनुभव करने वाला प्रमाता शाम्भव प्रमाता कहलाता है जिसे शुद्ध 'अहम्' की अनुभूति होती है।

सांख्य में पुरुष केवल चैतन्य स्वरूप है उसमें कर्तृत्व नहीं है कर्तृत्व तो प्रकृति में है। वेदान्त में ब्रह्म निर्गुण-स्वरूप है कर्तृत्व तो माया में है। उनका ब्रह्म तो क्रियाविहीन शुद्ध ज्ञानरूप है। परन्तु शैवदर्शन में शिव ज्ञानरूप तथा क्रियारूप दोनों है। उस कोरे ज्ञान से क्या जिसका कोई परिणाम, कोई कार्य न हो। ज्ञान तभी सार्थक होता है जब उसमें कर्तृत्व होता है। अत: यह परमशिव वेदान्त के ब्रह्म एवं सांख्य के पुरुष से बिलकुल भिन्न है। परमशिव चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों से

परिपूर्ण है। यह अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति[1] से सम्पूर्ण जगत् में भासित होता है। वाक् और अर्थ की भाँति चन्द्र और चन्द्रिका के समान अथवा वह्नि और उसकी दाहकता के समान शिव एवं शक्ति का सहज सामरस्य है।

इसीलिए शिव को प्रकाश-विमर्शमय कहा गया है अर्थात् उसमें चैतन्य एवं क्रिया का सहज समन्वय है।

शक्तितत्त्वः—शिव और शक्ति में अभेद एवं अविनाभाव है। अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति के समान इनमें नित्य तादात्म्य है, जैसे जिसमें जलाने की शक्ति न हो उसे अग्नि नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जिसमें शक्ति न हो वह शिव नहीं माना जा सकता है। शिवतत्त्व न तो निष्क्रिय है और न अशक्त। शक्ति के बिना शिव में किसी प्रकार का स्पन्दन भी सम्भव नहीं है। शंकराचार्य की इस संबंध में यह उक्ति उल्लेखनीय है :—

> **शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्**
> **न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥**

शिव में विश्वसृष्टि की इच्छा का उन्मेष ही शक्तितत्त्व है। शक्ति-तत्त्व समग्र विश्व का बीजभूत है। सिसृक्षा का भाव ही शिव को शक्ति-तत्त्व में परिवर्तित कर देता है—

> **अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम् ।**

क्षेमराज, पराप्रवेशिका पृ०, ६–७

विश्वोत्तीर्ण शिवतत्त्व की विश्वोन्मुखता शक्तितत्त्व है। इस अवस्था में 'अहम्' के साथ 'अस्मि' की भी अनुभूति होती है अर्थात् परप्रमाता का 'अहमस्मि' यह अनुभव शक्तितत्त्व का द्योतक है। विश्व के सभी पदार्थ शक्तिरूप हैं। इन शक्तियों में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया इन पाँच शक्तियों को प्रमुख माना जाता है। इनमें भी सर्वप्रधान स्वातन्त्र्य शक्ति है—

---

१. स्वातन्त्र्यसंयोजनवियोजनानुसंधानादिरूपं, आत्ममात्रतायामेव जडवद् अविश्रान्तत्वम्, अविच्छिन्न प्रकाशसारत्वम्, अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् ।–ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, १.५.१३.

तस्मात् संवित्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं सत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु ।।

तन्त्रालोक १.१६०

शिवतत्त्व में चैतन्य की प्रधानता थी तो शक्तितत्त्व में आनन्द की प्रधानता का अनुभव होता है। अहंता की अन्तर्मुखता शिवतत्त्व है तो उसकी बहिर्मुखता शक्तितत्त्व है। वैसे यह कहना आवश्यक है कि इस अवस्था में आन्तर और बाह्य का भेद नहीं होता है। सर्वथा निस्पन्द शान्त समुद्र में पहली हल्की लहर की तरह यह शक्तितत्त्व है। जो दार्शनिक शक्तितत्त्व को प्रधान मानते हैं वे शाक्त और जो शिव को प्रधान मानते हैं वे शैव कहलाते हैं, वैसे शिव और शक्ति का भेद पारमार्थिक दृष्टि से करना संभव नहीं है इन दोनों का भेद केवल व्यवहार मात्र में है—

शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च सशक्तित्वेऽपि प्राधान्यादेकं शक्तिर्हि न शक्तिमतो भिन्ना भवितुमर्हति ।।

तंत्रालोक टीका आ० ११ पृ० ४३

शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत् ।।

विज्ञानभैरव वृत्ति, पृ० २२

सदाशिवतत्त्वः—इच्छाशक्ति के प्राधान्य होने पर एवं ज्ञान के उद्रेक होनेपर शिव का आभासन सदाशिवतत्त्व है। शिव-शक्ति की अवस्था अभेद की है उसमें भेद का कुछ भी भान नहीं होता। सदाशिवतत्त्व भेदाभेद की भूमिका व्यक्त करता है। शिव के अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान की और उसके बहिर्मुख स्पन्द में क्रिया की अस्फुट एवं निर्विषयक अभिव्यक्ति होती है। शिव का अन्तः निमेष सदाशिवतत्त्व है और बाह्य उन्मेष ईश्वरतत्त्व है।

उत्पल ने अपनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में कहा है—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।

चूंकि इस भूमिका में भी वास्तविक बाह्यता स्थापित नहीं होती इसलिए यह शिवतत्त्व से अभेद की भूमिका है। पर आन्तर बहिर्मुखता का

अस्फुट आभासन होता है इसलिए यह भेद की भूमिका भी है। इस प्रकार सदाशिवतत्त्व शिव की भेदाभेदभूमिका है। इस भूमिका का अनुभव करने वाला प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है। उनकी अनुभूति का स्वरूप 'अहमिदम्' का है। इस प्रतीति में इदं अहं से भिन्न नहीं, उसी का रूपभेद है, क्योंकि इदं भी आन्तर ही है। 'अहमिदम्' की प्रतीति में भी इदन्ता अहन्ता से आच्छादित रहती है। 'अहं' में 'इदं' अंश का अस्फुट उल्लास ही सदाशिवतत्त्व है:—

'तत्र यदा 'अहम्' इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता 'अहमिदम्' इति।'

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २ पृ० १९१

कुछ अस्फुट रेखाओं से उन्मीलित चित्र की भांति सदाशिवतत्त्व है, जिसमें विश्वरूपी चित्र का प्राथमिक आभास तो है किन्तु वह उकरा (अंकित) हुआ नहीं है। शिव-शक्ति की भूमिका 'सदसद्' की भेद-भूमिका से सर्वथा परे है किन्तु सदाशिवतत्त्व में 'सत्' प्रथम अभिव्यक्ति होती है। इसलिए इसे सादाख्य तत्त्व भी कहा गया है—

यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्। तत्सादाख्यं तत्त्वम्।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २ पृ० १९५

जगत् का प्रलय इसी अवस्था में आकर पूर्ण हो जाता है इसीलिए आगमों में इसे अन्तः निमेष कहा गया है:— **निमेषोऽन्तः सदाशिवः।**

ईश्वरतत्त्वः—ईश्वरतत्त्व की अभिव्यक्ति क्रियाशक्ति के उद्रेक से होती है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्दन सदाशिवतत्त्व है तो बहिर्मुख स्पन्दन ईश्वरतत्त्व है। इस भूमिका का अनुभविता प्रमाता मन्त्रेश्वर कहलाता है और इसका अनुभव इदं अहं के रूप में होता है। अर्थात् 'अहं' की अपेक्षा 'इदं' प्रधान हो जाता है जबकि सदाशिवतत्त्व में 'अहं' की प्रधानता थी। 'इदं' का अभिप्राय विश्व से है। अहन्ता की अनुभूति में जब इदन्ता या विश्व की आन्तर अनुभूति होती है तो वही ईश्वर तत्त्व कहलाता है। 'अहं' का विमर्श दोनों तत्त्वों में होता है पर 'इदं' अंश की स्फुटता और अस्फुटता को लेकर सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व भिन्न-भिन्न माने गये हैं।

सद्विद्या:—पाँचवां तत्त्व शुद्धविद्या या सद्विद्या है: शुद्धता का अभिप्राय है स्थूल, स्फुट, या बाह्य इदन्ता न होना। इदन्ता और अहन्ता की एक समान स्फुट प्रतीति ही सद्विद्या है। माया-प्रमाता की अनुभूति में 'अहं' और 'इदं' पृथक्-पृथक् अधिकरणों के द्योतक होते हैं। 'अहं' का अभिप्राय प्रमाता से होता है और 'इदं' का प्रमेय (विषय) से। इन दोनों का भेद सुस्पष्ट होता है। शुद्धविद्या की भूमिका में एक ही अधिकरण में 'अहं' और 'इदं' दोनों की प्रतीति होती है :—

ये एते अहम् इति इदम् इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् अहम् इति ग्राहके इदम् इति च ग्राह्ये। तन्निरासेनैकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्संगमनं सम्बन्धस्वरूपप्रथनं तत् सती शुद्धाविद्या।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २ पृ० १९६–९७

इस प्रकार अहंता और इदंता का अभेद-बोध ही सद्विद्या है:—

सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोर्भेदमतिः।

षट्त्रिंशतत्त्वसंदोह, श्लोक ३

एक तराजू के दो समान पलड़ों की तरह 'अहं' और 'इदं' का जहाँ अनुभव हो वह सद्विद्या का द्योतक है। इस प्रकार 'अहमिदं' का शुद्ध परामर्श ही सद्विद्या है। शुद्धविद्या को परापर-दशा कहा गया है। भावों का अनात्मरूप में भासन अपरत्व (अपूर्णत्व) है और उनका अहंता से आच्छादित रहना परत्व है। चूँकि सद्विद्या में अनात्मरूप से भासित पदार्थ अहंता से आच्छादित रहते हैं अतः इसे परापर-दशा कहना उचित है:—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका

अहं तथा इदं की समकोटिक अनुभूति करने वाले प्रमाता मन्त्र कहलाते हैं। इस प्रकार शिव से लेकर सद्विद्या तक शुद्ध अध्वा कहलाता है और उनके प्रमाता क्रमशः शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र नाम से माने गये हैं:—

शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ।
मंत्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंच गणाः क्रमात् ॥

शिवशक्ति की भूमिका अभेद की तथा शेष तीन तत्त्व भेदाभेद-भूमिका में अवस्थित है। इसके आगे के तत्त्वों से भेद-भूमिका का प्रारम्भ हो जाता है इसलिए उसे अशुद्ध अध्वा कहा जाता है। इस भूमिका का प्रथमतत्त्व माया है।

पांचकंचुकः—शैवदर्शन में निरूपित पंचकंचुक मायातत्त्व को ही विविध रूपों में प्रकट करते हैं अतः उन्हें माया का ही परिणाम या विस्तार कहा जा सकता हैं। ये पांच तत्त्व हैं—कला, विद्या, काल, राग, नियति। कला कर्तृत्व का संकोच है अर्थात् अपरिमित कर्तृत्व को संकुचित कर देना ही कलातत्त्व का कार्य है। प्रमाता की ज्ञानशक्ति के संकोच का कारण विद्यातत्त्व है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो यह भी कहा जा सकता है कि कला और विद्यातत्त्व क्रमशः किंचित् कर्तृत्व और किंचित् ज्ञान प्रकट करते हैं और उससे प्रमाता को 'किंचित् करोमि' और 'किंचित् जानामि' की अनुभूति होती है:—

अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नीलसुखादिं विविनक्ति। कला किंचित् कर्तृत्वोद्वलन-मयी कार्यमुद्भावयति। किञ्चिज्जानामि किञ्चित् करोमीति।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ३–१–९

वस्तु विशेष के प्रति जानने या करने का भाव रागतत्त्व के कारण होता है। मायीय प्रमाता किसी खास कार्य या ज्ञान के प्रति ही क्यों प्रवृत्ति होता है:—

अत्र चांशे तुल्येऽपि किञ्चित्त्वे, कस्मादिदमेव किंचित्इत्यर्थेऽभिष्व-ङ्गरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागो व्याप्रियते।

वही ३-१-९

इसी के कारण वह वस्तु विशेष में गुण का आरोपण करता है। वस्तु विशेष को जानने या करने के लिए प्रवृत्ति का आधार यह रागतत्त्व है। इस राग के कारण प्राणी सदैव यही चाहता है कि संसार की सारी वस्तुऐं उसके लिए उपयोगी हैं और वह सदा बना रहे उसका अस्तित्व कभी भी नष्ट न हो।

सर्वं ममेदमुपयुज्यते। भूयासम्, मा कदाचिन्न भूवम्। इत्येतत् पशोः रागतत्त्वम्।

परमार्थसार टीका पृ० ४८

यह रागतत्त्व द्वेष के विपरीत राग से भिन्न है। द्वेष का उल्टा राग अन्तःकरण का धर्म है उसे रागतत्त्व नहीं समझना चाहिए। रागतत्त्व अन्तःकरण से बहुत ऊपर का तत्त्व है जो मायीय प्रमाता को पुरुष रूप में प्रकट करता है। यह रागतत्त्व वैराग्य का विरोधीभाव भी नहीं है वह भाव भी बुद्धि का ही स्वभाव है। रागतत्त्व बुद्धि से उपर मायीय प्रमाता को संकुचित करने वाला तत्त्व है।

भूत और भविष्य से सामर्थ्य हटाकर विशिष्ट कालांश में प्रमाता के सामर्थ्य का संकोच करने वाला तत्त्व कालतत्त्व है। क्रम का आभासन ही काल है।

अन्तिम तत्त्व को नियति कहते हैं इसके कारण प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य बना रहता है। इसी कंचुक के कारण प्रमाता की कर्तृत्व और ज्ञातृत्व शक्ति और अधिक संकुचित हो जाती है। कार्यकारणभाव भी इसी नियतितत्त्व का व्यापार है:—

[अ] **रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।**

मालिनीविजयोत्तर तंत्र १–२८

[ब] **नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः।**

पराप्रवेशिका, पृ० ९

बन्धन तथा मोक्ष

परमार्थसार में मुक्त योगी, आत्मज्ञ या जीवन्मुक्त का विस्तृत वर्णन है। यह सारा वर्णन लगभग आधे परमार्थसार में फैला हुआ है। मैं शिव हूँ, समग्र शक्तियों का नायक हूँ, समग्र संसार मुझ में प्रतिबिम्बित है जैसे कि दर्पण में घटादि, संसार का वितान मुझसे ही होता है जैसे कि सुप्त व्यक्ति से स्वाप्निक वैचित्र्य प्रस्फुरित होता है, प्रकाशरूप में मैं सभी वस्तुओं का आधार हूँ, निरिन्द्रिय होकर भी मैं ही दर्शन, श्रवण आदि का कर्ता तथा समग्र ज्ञान का स्रोत हूँ। इस अद्वयभावना से द्वैत विनष्ट हो जाता है और जीव शिव में उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे पानी में पानी (का० ५१)। सभी दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि अज्ञान बंधन का

हेतु है तथा मिथ्याज्ञान से संगम के कारण ही शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख आदि की द्वैत-कल्पना में व्यक्ति पड़ता है। यही अविद्या जन्म-मृत्यु का, दुःख का, कारण है (का० ५४)। जब अद्वय-भावना का दीपक जलता है तो अज्ञान से उत्पन्न द्वैतमूलक सारा कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कि आग से रूई का ढेर (का० ५५)। ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद योगी कुछ भी कर्म करे वह बन्धन का कारण नहीं बनता (का० ६२ तथा ६७) और जो बन्धन-मुक्त हो जाता है वह शिव है। बन्धन में पड़ा हुआ जीव माया के पाश से निगडित होने के कारण पशु और उससे मुक्त होनेवाला पति कहलाता है क्योंकि वह किसी पाश से बंधा हुआ नहीं है। त्रिविध मल--आणव, मायीय तथा कार्म—शिव के स्वरूप को ढक लेते हैं। इन मलों से निर्मुक्त, इन कोशों से उद्वेष्टित आत्मा मुक्त है (का० ५७)। यह मुक्ति अपनी आत्मा को शिवमय समझने से होती है (का० ६४–६६)। मुक्ति संसार से दुःख निवृत्ति है। यह अभावात्मक न होकर शिवत्व की प्राप्ति है। यह ज्योतिर्मयता है, दीपक का बुझना नहीं है। शिवभावना की वायु से प्रतिबुद्ध ज्ञानी द्वैतविकल्पों का निरन्तर आत्मज्योति में हवन करता हुआ ज्योतिर्मय हो जाता है। वह मुक्त होकर खाने-पीने, पहनने-ओढने, रहने-सोने के बन्धनों से निवृत्त हो जाता है (का० ६९), वह पुण्य-पाप से अस्पृष्ट रहता है (का० ७० तथा ८४) विषयजन्य मनोविकार मद, हर्ष, क्रोध, विषाद, भय, लोभ और मोह का वह त्याग कर देता है और उसे स्तोत्र पढ़ने या वषट्कार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती और न उसे साम्प्रदायिक वाद-विवादों से कोई प्रयोजन रहता है (का० ७१)। आत्मज्ञ का देवगृह, उसकी पूजा, होम, ध्यान, जप, व्रत आदि क्या होते हैं इसका विवेचन परमार्थसार में क्रमशः कारिका ७४–८० में उपलब्ध है। इसी विषय का विवेचन अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में भी किया है। उसके अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से तो किसी प्रकार का विकल्प संभव ही नहीं है किन्तु क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता उसमें दो प्रकार के विकल्प उत्पन्न करती है—शुद्धविद्यात्मक तथा मायीय विकल्प। शुद्धविद्यारूप विकल्प मायीय विकल्पको नष्ट कर देता है। इसी शुद्धविद्यात्मक विकल्प के स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान जप आदि अनेक प्रकार हैं। स्नान आदि भेदात्मक हैं इसलिए इन्हें मायीय विकल्प में परिगणित किया जाना चाहिए। परन्तु ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि यहाँ स्नान आदि का आशय सामान्य लौकिक स्नानादि से न होकर अलौकिक स्नान आदि

से है। ज्ञानाग्नि के द्वारा जब विश्वरूप ईंधन जल जाता है तब उससे बची हुई अपरिमित प्रमातृरूप भस्म के द्वारा देहादिरूप परिमित प्रमाता का मज्जन ही अलौकिक स्नान है। भेदज्ञानरूप अशुद्धि का विनाश ही परम ज्ञानरूप शुद्धि है। इन्द्रियवृत्ति में रह कर मानस को आह्लादित करनेवाली वस्तु को ब्रह्मरूप सद्धाम में जोड़ना पूजा का उपकरण है तथा चिदात्मा के साथ रूप, रस आदि विभिन्न भावसमूहों का एकीकरण ही पारमार्थिक पूजा है। दूसरे शब्दों में संविद् से ऐक्य स्थापित करना ही पूजा है। स्वात्म में विश्रान्त योगी का श्वास-प्रश्वास लेना, सोचना-विचारना आदि प्रत्येक आचरण अलौकिक जप है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा योगी जो कुछ बाह्य एवं आन्तर वस्तु का आभासन करता है वही उसका ध्यान है। भैरवीय परम आसव से घूर्णित योगी के शरीर के रहने पर भी देह की जो स्थिति होती है वही मुद्रा है। समग्र इन्द्रिय-समूह के रूप में फैली हुई प्रचण्ड ज्वालाओं वाली अग्नि का हृदय में निरन्तर जलना ही होम है। इन ध्यानादि उपायों का निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप योगी शीघ्र ही भैरवमय हो जाता है। यद्यपि सांसारिक पुरुष उसे देह की सीमा के कार्यों में लगा हुआ देखते हैं[१]।

त्रिक दर्शन की सभी शाखाओं में सामान्यतः मुक्ति के चार उपायों को स्वीकार किया गया है—अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय। इन चतुर्विध उपायों को ही तत्तत् गुणों के प्राधान्य के कारण क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय एवं क्रियोपाय भी कहा जाता है। इनमें से शाम्भवोपाय अभेददृष्टि-प्रधान, शाक्तोपाय भेदाभेददृष्टि-प्रधान तथा आणवोपाय भेददृष्टि-प्रधान है। अधिकारि-भेद से बताये गये विविध उपायों से जो फल प्राप्त होता है वह एक ही है जिसे मुक्ति, आत्मज्ञान अथवा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कहा जाता है[२]। मुक्ति को आत्मज्ञान अथवा स्वरूप की प्राप्ति कहने का यह आशय कदापि नहीं कि मोक्ष कार्य है और आत्मज्ञान उसका कारण। यहाँ उपाय एवं उपेय में यदि कार्य-कारण-

---

१. द्रष्टव्य, तंत्रालोक ४.११४—२०६.

२. संविदेव सर्वम् इति को नाम हेतुफलभेदः।

भाव माना जायेगा तो अनेक असंगतियां उत्पन्न होंगी[१]। मोक्ष कोई नूतन उपलब्धि नहीं है अपितु ज्ञात का ही ज्ञान है। यह अनुत्तरतत्त्व से तन्मय हो जाना है। यही पूर्णता है। इससे सभी प्रकार के संकोचाभिमान गल जाते हैं। इस महान् फल की प्राप्ति होने पर किसी भी प्रकार के अन्य फल की आकांक्षा शेष नहीं रहती। इस पूर्णता में पारतंत्र्य का लेशमात्र भी नहीं होता। यह तुर्यातीत अवस्था है जिसे शिव के शक्तिपात से पवित्र कोई भी मुमुक्षु योगी अनुभूत करता है। जिस योगी को आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो चुका है वह समस्त विश्व से स्वयं को अभिन्न समझता है तथा सभी वस्तुओं में शिवता को देखता है। उसका जगत् के प्रति वही दृष्टिकोण एवं अनुभव हो जाता है जो वस्तुतः शिव का जगत् के प्रति है अर्थात् मुक्त पुरुष इस जगत् को त्याज्य, मिथ्या अथवा हेय न मानकर इसे शिवरूप अथवा अपने से अभिन्न समझता है। वह लौकिक देह को धारण करते हुए तथा उसके द्वारा लौकिक विषयों का उपभोग करते हुए भी तत्संबन्धी दोषों से उसी प्रकार अप्रभावित रहता है जैसे मन्त्रादि से संपन्न व्यक्ति विष से प्रभावित नहीं होता। अतः सर्वशिवात्मकता की अनुभूति ही परम एवं पूर्ण मुक्ति है। बद्ध एवं मुक्त पुरुषों में भी व्यवहार-दृशा यही भेद है कि मुक्त पुरुष सांसारिक वस्तुओं को स्वात्मा से अभिन्न मानकर उनका उपभोग करता है तथा बद्ध पुरुष उनमें भेदबुद्धि[२] रखते हुए एवं उन्हें अपने से भिन्न समझते हुए उनका उपभोग करता है। यही इस दर्शन के अनुसार बन्ध और मोक्ष का स्वरूप है। इसीलिए इस दर्शन में जीवन्मुक्ति का दृढ़ता से समर्थन करते हुए उसे भोगमोक्षरूपा माना गया है।[3]

काश्मीर शैवदर्शन की परंपरा

प्रागैतिहासिक शैवधर्म, जिसके प्रमाण हमको आगे चलकर सिन्धु-घाटी की सभ्यता से मिलते हैं, काश्मीर की केसरभूमि में कब और कैसे

---

१. इह अत्मज्ञानमेव मोक्षः इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति इति नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात् इत्यनिष्टापादनात्मायं प्रसंगो नाशंकनीयः।

तंत्रालोकविवेक १.१६१

२. अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे बद्धमुक्तयोर्विशेषः यन्मुक्तस्य स्वांगरूपतया भावा अवभासन्ते बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेन। विवेक, ४.२।

३. भोगमोक्षसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्षः।

महार्थमंजरी परिमल, ५२।

आया, यह कहना कठिन है। राजतरंगिणी के विभिन्न सन्दर्भों[1] के अनुसार यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व से ही शिव की आराधना एवं अर्चना काश्मीर में प्रचलित थी, जो विभिन्न राजाओं का आश्रय पाकर विभिन्न युगों में पल्लवित और पुष्पित होती रही[2]। किन्तु शैवधर्म का जो स्वरूप समाज में प्रचलित था वह द्वैत पाशुपत सम्प्रदाय पर आधारित था। अद्वैतप्रधान त्रिकदर्शन का प्रवर्तन आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता। जिसे आज काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है उसका शास्त्रीय नाम त्रिकशासन अथवा त्रिक है। इसी को रहस्यसम्प्रदाय तथा त्र्यम्बकसम्प्रदाय भी कहा गया है। सिद्धा, नामक तथा मालिनी इन तीन आगम-समूह को, शिव, शक्ति तथा अणु को, पति, पाश और पशु को, शिव, शक्ति तथा नर को, देवी के परा, अपरा तथा परात्परा इन तीन रूपों को मानने के कारण, भेद, अभेद तथा भेदाभेद की व्याख्या के कारण इसे त्रिक कहा जाता है।[3]

यद्यपि त्रिकदर्शन का व्यवस्थित प्रवर्तन काश्मीर में नवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ है किन्तु जिन आगमों तथा गुरुपरम्परा के आधार पर इस दर्शन का निर्माण हुआ वे इनसे काफी प्राचीन हैं, गो कि उनका समय निश्चित कर पाना अवश्य कठिन है। त्रिक दर्शन के आधारभूत शास्त्रों का तीन शाखाओं में विभाजन किया जाता है[4]: १. आगमशास्त्र, २. स्पन्दशास्त्र तथा ३. प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। इनमें प्रथम महत्त्व स्वभावतः शैवागमों का है।

तन्त्रालोक आह्निक ३६, ११-१२ में बताया गया है कि श्रीकण्ठ-नाथ की आज्ञा से त्र्यम्बकादित्य, अमर्दक और श्रीनाथ ने त्रिविध शैवतन्त्रों

---

१. राजतरंगिणी, १· १०५-१०७, ११३, १२४, १४८, १५४, ३४६-३४८, २· १४ ६५, १२३-१३५, ३·९९, २६८-२८०. ३५०, ४४०-४६३, ४· ४३, १८९, १९०, २०९, २१४, ५१३, ५· ३७, ४०, ४५, ४६· ४८-४९, १५८, १६३, ६· १३७, १७३, ७·११५, १८०-१८१, १८५, २०१, ५२५-५२७, ८· २४०९, २४३२, ३३४८, ३३५५, ३३८९, ३३९१·

२. अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ काश्मीर, पृ० १६९-७२·

३. अभि०, पृ० २९५-९६।

४. इसके खण्डन में बलजिन्नाथ पण्डित, श्री काश्मीर शैवदर्शन, पृ० १७ भी द्रष्टव्य है।

का प्रवर्तन किया। आह्निक ३६, १३ में यह भी बताया है कि अर्धत्र्यम्बक नाम से एक और आगम-सम्प्रदाय है जिसका प्रवर्तन त्र्यम्बक की पुत्री ने किया था। दक्षिण का शैव सिद्धांत प्रधानतः द्वैतवादी है जबकि काश्मीर का शैवर्शदन अद्वयवादी है।

आचार्य सोमानंद के अनुसार शिवाद्वयवाद का कई बार प्रादुर्भाव और तिरोभाव विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। शिवदृष्टि (७·१०७–११३) के अंत में उन्होंने शैवदर्शन के इतिहास और परम्परा को प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार भगवान् श्रीकण्ठनाथ तथा महर्षि दुर्वासा के अनुग्रह से कलियुग में शैवागमों का प्रादुर्भाव हुआ है। आगमों के अनुसार अगस्त्य, दत्तात्रेय, दुर्वासा, परशुराम आदि पूर्ण पुरुष तान्त्रिक रहस्यविद्या के आचार्य माने गये हैं। तन्त्रालोक (३६· १-५) के अनुसार ब्रह्मा, शुक्राचार्य, बृहस्पति, इन्द्र आदि इसी विद्या के उपासक हैं। महाभारत (अनुशासन पर्व, अ. १४४-१४६) के अनुसार दुर्वासा ऋषि ने कृष्ण को तान्त्रिक विद्या में दीक्षित किया था। उन्होंने ही श्रीकृष्ण को ६४ शैवागम सिखाये थे।

शिवदृष्टि (७. ११४–११९) के अनुसार त्र्यम्बकादित्य प्रथम के १५ वें शिष्य ने ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। इनका पुत्र संगमादित्य हुआ जो तीर्थाटन करते हुए काश्मीर पहुँचा और वहीं ८ वीं शताब्दी में बस गया। इसके पूर्व काश्मीर में जो धर्म प्रचलित था वह वैदिक, वैष्णव एवं बौद्ध विश्वासों का मिला-जुला रूप था[1]। इनके बाद ही काश्मीर में शैव-दर्शन प्रचलित हुआ जिसके प्रचार-प्रसार में अनेक आचार्यों ने समय-समय पर योग दिया (देखिये–शिवदृष्टि ७. १२२)। इन आचार्यों को मठिकागुरु कहा जाता था। ये अनेक शैवागमों के ऋषि हैं। सोमानंद इन्हीं की चतुर्थ परम्परा के हैं। इन्होंने ही शैवदर्शन के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ शिवदृष्टि का अक्षपाद के न्यायसूत्र की शैली में निर्माण किया है। त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में ये २० वें आचार्य थे। संगमादित्य के बाद के क्रमशः तीन शिष्य वर्षादित्य, अरुणादित्य तथा आनंद थे[2]। चूंकि संगमादित्य १६ वें शिष्य थे, अतः सोमानंद को त्र्यम्बकादित्य की परम्परा का २० वां आचार्य मानना चाहिए। सोमानंद का समय ८ वीं शताब्दी माना जाता है। अतः इनसे तीन पीढ़ी पूर्व के संगमादित्य का समय ७ वीं शताब्दी

---

१. हिस्ट्री ऑफ शैविज्म, पृ० १२१–२२, तथा कल्चरल हेरिटेज ऑफ काश्मीर, पृ० १०६–१०७।

२. शिवदृष्टि, ७·११९–२०।

का प्रारंभ माना जा सकता है। सोमानंद ने एक ऐसे शैवाचार्य का भी उल्लेख किया है जो शक्तिस्वरूप का उपासक था। उत्पलदेव ने उसके पद्य उद्धृत किये हैं और रामकण्ठ ने उसका नाम "भट्ट प्रद्युम्न" दिया है। सोमानंद के २०वें प्रगुरु त्र्यम्बकादित्य का समय लगभग चतुर्थ शताब्दी ई० माना जा सकता है। काश्मीर शैवदर्शन को त्र्यम्बक-सम्प्रदाय भी कहा जाता है क्योंकि इसका प्रवर्तन त्र्यम्बकादित्य ने किया था। इस दर्शन के सम्पूर्ण वाङ्मय की रचना काश्मीर में जन्मे पण्डितों ने की है। इसीलिए इसका काश्मीर शैवदर्शन नाम प्रसिद्ध हुआ है। उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका दार्शनिक वाङ्मय का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। माध्वाचार्य ने इसका उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से किया है।

शैवागमों का प्रादुर्भाव : भारतीय दृष्टि—आगमों का शैवदर्शन से वही संबंध है जो कि उपनिषदों का वेदान्त से। विज्ञान-भैरव (६. पृ०७) के अनुसार शैवागमों की उत्पत्ति शिव से ही हुई है। उन्होंने ही श्रीकण्ठनाथ के रूप में शैवागमों का ज्ञान ऋषियों को दिया है जिसकी लम्बी शिष्य-परम्परा प्राप्त होती है[1]। शैवागमों के विभिन्न सम्प्रदाय आज भी प्रचलित हैं। काश्मीर शैव दर्शन का निकटतम संबंध त्रिकसम्प्रदाय के आगमों से है। प्रमुख उपलब्ध त्रिक आगम निम्नलिखित हैं—मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दतंत्र, रुद्रयामल, नेत्रतन्त्र, मृगेन्द्रतन्त्र, विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका और शिवसूत्र। नेत्रतन्त्र तथा मृगेन्द्रतन्त्र (जो कि कामिकागम का भेद है) द्वैत सम्प्रदाय से संबंधित हैं। विज्ञानभैरव तथा परात्रिंशिका को रुद्रयामलतन्त्र का भाग माना जाता है। सभी शैवागम वस्तुतः अद्वैत, द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायों के सामान्य आधार हैं। दक्षिण में २८ शैवागमों का प्रचलन है जिनमें से १० द्वैतवादी और १८ द्वैताद्वैतवादी धारा के माने जाते हैं। काश्मीर शैवदर्शन के आधारभूत ६४ आगम हैं[2] जिनमें से त्रिकदर्शन के उपर्युक्त आगम अधिक प्रमुख हैं। नैश्वासतन्त्र, आनन्दभैरव, उच्छुष्मभैरव आदि आगमों का अब नाम मात्र ही मिलता है।

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र— इसमें तेईस अधिकार (अध्याय) हैं जिनमें व्याप्ति, मन्त्रोद्धार, भुवनाध्वा, देहमार्ग, मुद्रा, समय, क्रियादीक्षा, अभिषेक,

---

१. देखिये शिवदृष्टि, ७·१२२।

२. तन्त्रालोक, १·१८, मा० वार्तिक, १·३९१–९२, अभि०, पृ० १४–४३।

दीक्षा, भूतजय, तन्मात्रधारणा, अक्षधारणा, परमविद्या, कुलचक्र, मन्त्र-निर्णय, चन्द्राकृष्टि, सूर्याकृष्टि आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की प्रारंभिक कारिकाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल में सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र था जिसमें नौ करोड़ कारिकायें थीं तथा जिसमें शैवसिद्धान्तों की भेद, भेदाभेद तथा अभेद रूप में व्याख्या की गई थी। मधुसूदन कौल के अनुसार सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र का पूर्व भाग सिद्धामत तथा अंतिमभाग मालिनीविजयोत्तरतन्त्र है। वर्णमाला के माला शब्द से इसका मालिनी नाम पड़ा है। वर्ण-विज्ञान के क्रम के विचार से इसके दो नाम प्रसिद्ध हैं—पूर्वमालिनी और उत्तरमालिनी। पूर्वमालिनी में वर्णों की अभिव्यक्ति और ध्वनि विचार से संस्कृत की वर्णमाला के शुद्ध वैज्ञानिक उदय-क्रम का विवेचन है। जब वर्णों के स्वाभाविक और वैज्ञा-निक उदय-क्रम पर ध्यान न देकर स्वरों और व्यंजनों के क्रमहीन रूप का विवेचन किया जाता है तो उसे उत्तरमालिनी कहा गया है। उत्तर-मालिनी के वर्णों के क्रम में "न" आदि में और "फ" अन्त में होता है। इसलिए उत्तरमालिनी को "नादिफान्ता" कहा जाता है। देवी और परमेश के संवाद के रूप में यह लिखा गया है। साधकों की देह में मन्त्रशक्ति द्वारा दिव्य प्राण संक्रमित करने की प्रक्रिया का मालिनीविजय में सुन्दर विवेचन किया गया है[१]। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का श्रीपूर्वशास्त्र[२] के नाम से भी उल्लेख किया है तथा मालिनीविजयोत्तरतन्त्र से अक्षरशः उद्धरण भी दिये हैं।[३]

स्वच्छन्दतन्त्र—सम्पूर्ण स्वच्छन्दतन्त्र छह खण्डों में विभाजित है। इसमें कुल मिलाकर पंद्रह पटल (अध्याय) हैं, जिनमें मन्त्रोद्धार, अर्चा, अधिवास, दीक्षा, अभिषेक, तत्त्वादिदीक्षा, पंचप्रवण, काल, अंशक, भुवना-ध्वदीक्षाविधि, मुद्रा तथा छुम्भका आदि विषयों का विवेचन हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र अद्वैत तन्त्रों में प्रधान, सभी प्रकार के भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाला एवं तात्विकरूप से गुह्य है[४]। अन्य तन्त्रों की भांति स्वच्छन्दतन्त्र की भी रचना भैरव एवं देवी के बीच हुए संवाद के रूप में

---

१. द्रष्टव्य—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की भूमिका।

२. तन्त्रा०, ४, १५-१६, ३५, ४६, १०६–८.

३. इस आगम से उद्धरण के लिए द्रष्टव्य—तन्त्रा०, ४.२१३–२१; ५.१०७–८.

४. द्रष्टव्य—उद्योत, ८.३९

हुई है।[1] इस तन्त्र पर आचार्य क्षेमराज ने उद्योत टीका लिखी है। भाषा एवं विषय की दृष्टि से स्वच्छन्दतन्त्र तन्त्रालोक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। तन्त्रालोक के छठे आह्निक की विषय-वस्तु बहुत कुछ इस आगम पर आधारित है। देशाध्वा तथा कालाध्वा का सारा विषय इसी आगम से लिया हुआ है। जयरथ ने इस आह्निक की व्याख्या में स्वच्छन्दतन्त्र के प्रचुर उद्धरण दिये हैं। अभिनवगुप्त ने स्वच्छन्दशास्त्र के नाम से इसके अभिप्राय का अनेकत्र उल्लेख किया है।[2] इस तन्त्र में विभिन्न आख्यानों, भूभागों, नदियों, पर्वतों, द्वीपों आदि का वर्णन पौराणिक शैली में मिलता है। डा० पाण्डेय के अनुसार इसका समय ई० द्वितीय शती से पूर्व नहीं माना जा सकता है।[3]

रुद्रयामल तन्त्र—यह अद्वय-प्रधान चौसठ आगमों में से एक है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तन्त्र है, क्योंकि विज्ञानभैरव, परात्रिशिका, भवानी-नामसहस्र आदि अनेक आगम ग्रन्थ इसी के खण्ड माने जाते हैं। दुर्भाग्यवश, यह अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। अभिनवगुप्त ने श्रीब्रह्मयामल के नाम से तन्त्रा०, ४.५७-५८ में अक्षरश: उद्धरण दिया है, तथा जयरथ के अनुसार तन्त्रा०, ४,६०-६४ तथा तन्त्रा० ५.९७-९८ में अभिप्राय के रूप में उल्लेख किया है। यह तन्त्र रुद्रयामल से भिन्न है जिसके अनुसार अभिनव ने गुरु तत्त्व का निरूपण किया है। यह अद्वय प्रधान चौसठ आगमों की यामलतन्त्र शाखा में ही सम्मिलित है। श्रीरुद्रयामलतन्त्र रुद्रतन्त्र से भी भिन्न प्रतीत होता है। इस तन्त्र का उल्लेख अभिनव ने मालिनी विजय-वार्तिक (पृ० ३८) में किया है। परात्रिशिका में रुद्रयामल का सार पद्यबद्ध प्रस्तुत किया गया है[4]।

परात्रिशिका—इसका सही नाम परात्रीशिका है जिसका अर्थ है इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया—इस तीन (त्रि) की स्वामिनी (ईशिका) परासंवित्। किन्तु ध्वनिसाम्य के कारण परात्रिशिका नाम अधिक प्रचलित हो गया है। यह रुद्रयामलतन्त्र का ही अन्तिम भाग माना गया है। इस पर सोमानन्द, भवभूति, कल्याण[5], अभिनवगुप्त, लक्ष्मीराम, लासक

---

१. द्रष्टव्य–स्व० तं०, १.४-१२

२. तन्त्रा०, ४.३८, ६.५०, १३६-३८

३. अभि०, पृ० ५७२

४. देखिए–अभि०, पृ० ४४–४५.

५. श्रीसोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमा: ।
तथाहि त्रीशिकाशास्त्रविवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधा: ॥ तंत्रा०, १३-१४९.

आदि[1] ने टीकायें लिखी हैं। इसी को त्रिकसूत्र, त्रिकागम, अनुत्तरसूत्र भी कहा गया है।

नेत्रतन्त्र—यह स्वच्छन्दतन्त्र की अपेक्षा अर्वाचीन है। इसमें मृत्यु-जित् के स्वरूप तथा साधना का उपदेश है। कहा जाता है कि यह मूलतः द्वैतपरक था जिसकी क्षेमराज ने अद्वैतपरक व्याख्या की। शिव के तृतीय प्रातिम नेत्र का स्वरूप वर्णन होने के कारण[2] तथा मुक्ति तक ले जाने (नयते) के कारण और संसार से त्राण के कारण इसे नेत्रतन्त्र कहा गया है।[3]

मृगेन्द्रतन्त्र—मृगेन्द्र का अर्थ नरसिंह है। शर्व द्वारा उक्त आगम के श्रोता नरसिंह के होने से इसका यह नाम पड़ा। कुछ लोग द्वैतप्रधान होने से इसकी गणना काश्मीर के शैवागमों में नहीं करना चाहते, पर अभिनव द्वारा इसके तथा इसके मूल कामिकागम[4] के अनेकत्र उपयोग करने के कारण तथा नारायणकण्ठ की यत्र तत्र अद्वैतप्रधान व्याख्या के कारण इसका भी शैव-दर्शन के आधारभूत आगमों में ग्रहण करना चाहिये। पशुपति की ईशान के रूप में साधना का विधान इस आगम में है। अन्य समान आगमों की भांति इसमें विद्या, क्रिया, चर्या तथा योग ये चार पाद हैं। प्रथम में १२, द्वितीय में ८, तृतीय तथा चतुर्थ में १-१ पटल हैं। इसमें पशुपति, पशु (जीव) तथा चतुर्विध पाश का निरूपण है। कामिकागम का संक्षप होने के कारण इसका समय बाद का प्रतीत होता है। यद्यपि जिस पाशुपत दर्शन का इसमें निरूपण है वह बहुत पुराना है। इस पर काश्मीर के श्रीभट्टनारायणकण्ठ ने वृत्ति लिखी है तथा उन्होंने उत्पल की

---

१. अभि० पृ० ४५.

२. द्रष्टव्य–नेत्रतन्त्र, १.१२.

३. वही, २२.१२.

४. तन्त्रा०, ४.२६–२७, ६.१९०–९१ में कामिकागम का अक्षरशः तथा तन्त्रा०. ४.२५, ६.९४–९५. १८९ में अभिप्राय दिया है।

ईश्वरसिद्धि (का. ५५) को उद्धृत किया है। मृगेन्द्रागम कामिकागम के ही अर्थ का संग्रह प्रस्तुत करता है, यह बात स्वयं इस आगम में स्वीकार की गई है[1]।

विज्ञानभैरव—अन्य तन्त्रों की भांति इसका उद्भव भी देवी भैरव के बीच हुए संवाद के रूप में हुआ है। विज्ञानभैरव पर जो टीकाएं मिलती हैं उनमें १६१ अथवा १६३ कारिकाओं का मूल ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इस पर आचार्य क्षेमराज और शिवोपाध्याय ने विवृति लिखी है। आचार्य क्षेमराज ने २४ वीं कारिका "ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो" तक विवृति लिखी है तथा २५ वीं कारिका से अंत तक शिवोपाध्याय ने उद्योत नामक विवृति लिखी है। संपूर्ण विज्ञानभैरव पर आनन्दभट्ट ने कौमुदी टीका लिखी है। इसे रुद्रयामलतन्त्र का सार एवं सर्वशक्तिप्रभेदों का हृदय कहा गया है[2]। इस ग्रन्थ में काश्मीर शैवागम के ज्ञान तथा योग पक्षों की व्याख्या है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में परम तत्त्व के स्वरूपनिरूपण के बाद उसको प्राप्त करने के उपायों के रूप में ११२ धारणाओं का विवेचन किया है।

शिवसूत्र—कैलास-स्थित भगवान् शिव ने ९ वीं शताब्दी के वसुगुप्त को स्वप्न में शिवसूत्र का उपदेश दिया था। वसुगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिकावृत्ति के अंत में इस बात का उल्लेख किया है। एक परम्परा यह भी प्रचलित हो गई थी कि वसुगुप्त को महादेवक नामक पर्वत की एक शिला पर ये सूत्र उत्कीर्ण हुए मिले थे। क्षेमराज और वरदराज इसी परम्परा में विश्वास करते हैं[3]। राजानक रामकण्ठ, उत्पलवैष्णव तथा भट्टभास्कर भी स्वप्नोपदेश की कथा को सिद्ध मानते हैं।

क्षेमराज ने शिवसूत्रों पर शिवसूत्रविमर्शिनी नाम से टीका लिखी है। भट्टभास्कर ने शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखी है। शिवसूत्र तीन अध्यायों

---

१. शिवोद्गीर्णमिदं ज्ञानं मन्त्रमन्त्रेश्वरेश्वरैः।
   कामदत्वात् कामिकेति प्रगीतं बहुविस्तरम्॥
   तेभ्योऽवगम्य द्व्योनिर्ज्वालालीढस्मरद्रुमः।
   ददावुमापतिर्मह्यं सहस्रैर्भवसम्मितैः॥
   तत्रापि विस्तरं हित्वा सूत्रैः सारार्थवाचकैः।
   वक्ष्ये निराकुलं ज्ञानं तदुक्तैरेव भूयसा॥ विद्यापाद, श्लोक २७–२९.

२. वि० भै०, का. १६२.

३. स्पन्दनिर्णय, पृ० २.

में विभक्त हैं जिनमें क्रमशः आणव उपाय, शाक्त उपाय तथा शाम्भव उपायों का, उनके प्रयोग तथा फल के साथ, विस्तृत विवेचन है। त्र्यम्बक-मठिका के वसुगुप्त प्रधान आचार्य हैं जिनका शिवसूत्र त्रिक साधना का प्रमुख ग्रन्थ है। राजतरंगिणी के अनुसार, भट्टकल्लट वसुगुप्त का शिष्य था जो अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) का समकालीन माना गया है। अतः वसुगुप्त का समय ९ वीं शताब्दी का प्रारंभ है। भट्टभास्कर, क्षेमराज तथा वरदराज शिवसूत्र के प्रधान टीकाकार हैं।

वाङ्मय का विकासकाल—सोमानन्द, उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त ने बौद्धदर्शन का खण्डन कर शैवदर्शन के सिद्धांतों को पुष्ट आधार दिया। इनके अनेक अनुयायियों ने शैवदर्शन के विकास में योग दिया है। इनमें प्रमुख आचार्य और उनकी कृतियां निम्नलिखित हैं—

भट्टकल्लट की स्पन्दकारिका—वसुगुप्त के शिवसूत्र के तान्त्रिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए भट्टकल्लट ने ९वीं शताब्दी के मध्य में ५१ कारिकाओं में स्पन्दकारिका का निर्माण किया। यह चार निष्पन्दों अथवा अध्यायों में विभाजित है। इनके क्रमशः नाम हैं—व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देश, व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धि, विश्वस्वभावशक्त्युपपत्ति तथा अभेदोपलब्धि। सैद्धांतिक विवेचन की अपेक्षा इसमें साधना एवं समावेश के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। इसमें उस शैव योग का प्रतिपादन है जो पतंजलि के निरोधात्मक योग तथा हठयोग की कष्टकर प्रक्रियाओं से भिन्न है। इसी स्पन्दकारिका के "स्पन्दामृत" तथा "स्पन्दशास्त्र" ये नामान्तर भी उपलब्ध होते हैं।

सोमानन्द की शिवदृष्टि—इसका समय ९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इस पर उत्पल ने वृत्ति तथा अभिनव ने शिवदृष्ट्यालोचन (अनुपलब्ध) लिखा था। सोमानंद ने ही शिवाद्वयवाद को व्यवस्थित दार्शनिक आधार प्रदान किया है। इसमें ७०० कारिकायें हैं जो ७ अध्यायों (आह्निकों) में विभाजित हैं। जिनकी विषयवस्तु इस प्रकार है—

प्रथम आह्निक में परम तत्त्व के स्वरूप, उसके विश्वात्मक होने, शैवकारणवाद, सृष्टिप्रक्रिया आदि का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में संस्कृत के व्याकरणदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन है। इसमें विवर्तवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। भर्तृहरि के पश्यन्ती को ही परा मानने का खण्डन किया गया है तथा अविद्या संबंधी मत के संबंध में भी आलोचना प्रस्तुत की गई है। तृतीय आह्निक

में भट्टप्रद्युम्न द्वारा स्वीकृत शक्तिवाद (शिव की अपेक्षा शक्ति की प्रधानता के मत) का खण्डन किया गया है। शिवाद्वयवाद के विरोधी २१ मतों का खण्डन भी इसमें प्राप्त होता है। चतुर्थ आह्निक में शिवाद्वयवाद का समर्थन किया गया है, दर्शनान्तर की शंकाओं का समाधान किया गया है तथा शैव सर्वेश्वरवाद, जिसके अनुसार सब कुछ शिव ही है और शिव से ही सब कुछ का आभासन होता है, को प्रस्तुत किया गया है। इसी में शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का तथा शिवाद्वयवाद के वास्तविक एवं पूर्ण अद्वैतवाद होने का प्रतिपादन किया गया है। पंचम से सप्तम आह्निकों पर उत्पल की वृत्ति उपलब्ध नहीं है, अतः ग्रन्थ को स्पष्ट समझ पाना कठिन है। पंचम आह्निक में सर्वेश्वरवाद का ही विस्तार से मण्डन किया गया है। षष्ठ आह्निक में दूसरे दर्शनों पर विचार प्रस्तुत किया गया है, उनके परम-तत्त्व-संबंधी मतों की मीमांसा की गई है। वेदांत के दस सम्प्रदायों की मूल धारणाओं की व्याख्या और विवेचना की गई है। इसी प्रकार कुछ ज्ञात और कुछेक अज्ञात सम्प्रदायों, जैसे कि कालकारणिक एवं सद्घामवादी, का विवेचन एवं खण्डन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार शैव द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद का भी खण्डन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम आह्निक में मोक्ष-साधक तान्त्रिक सिद्धांतों एवं साधनाओं का तथा शैवयोग एवं उसके फल का विवेचन किया गया है। इसीके अंत में सोमानंद ने त्र्यम्बकादित्य प्रथम से लेकर अपने समय तक की शैवदर्शन की आचार्य-परम्परा का उल्लेख किया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार[1], सोमानन्द ने परात्रीशिका पर टीका लिखी थी। सोमानन्द ने परमशिव की अनुग्रहपूर्ण क्रीडा एवं उसके स्वातन्त्र्य एवं सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है। शिवदृष्टि दार्शनिक दृष्टि से परवर्ती प्रत्यभिज्ञादर्शन का मेरुदण्ड है।

उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—सोमानंद के प्रमुख शिष्य, उदयाकर एवं वागीश्वरी के पुत्र, मूलतः लाटदेशीय उत्पलदेव का स्थितिकाल नवम शताब्दी का अंतिम भाग है[2]। उनकी प्रसिद्ध कृति ईश्वरप्रत्यभिज्ञा है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रमुख किंवा प्रवर्तक ग्रन्थ है। शिवदृष्टि तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में नाम, शैली एवं आकार का भेद अवश्य है किन्तु उनका प्रतिपाद्य एक ही है। उत्पल ने स्वयं कहा है कि शिवदृष्टि में उनके

---

१. परात्रीशिकाविवरण, पृ० २८२ का १९

२. देखिये-ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४-४-३

महागुरु ने जो कुछ भी बताया है उसी नवीन मार्ग को उन्होंने प्रकट किया है। अभिनवगुप्त भी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** को सोमानन्द की प्रज्ञा का प्रतिबिम्ब मानते हैं[1]। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में ४ प्रकरण (**अधिकार**) हैं : ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार तथा तत्त्वसंग्रहाधिकार। इन्हें विमर्शिनी के अनुसार १५ आह्निकों में और अभिनवगुप्त की विवृत्तिविमर्शिनी के अनुसार १६ आह्निकों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अधिकार में शिव की ज्ञानशक्ति का विवेचन है। शैवदर्शन के मूल तत्त्वों को प्रतिपादित करने के बौद्धों के बाद विज्ञानवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। आत्मा के अस्तित्व का चित्तवृत्ति से स्वतन्त्ररूप में प्रतिपादन है। इसके अनन्तर परमशिव की स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन (विश्लेषण, विवेचन, पृथक्करण) शक्तियों का विवेचन है। परमशिव को ही इस समग्र विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण माना गया है।

द्वितीय क्रिया-अधिकार में परमशिव की क्रियाशक्ति एवं उसके विभिन्न आभासों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त क्रम, काल, दिक्, कारणवाद आदि की मीमांसा प्रस्तुत की गई है।

तृतीय आगमाधिकार में शैवदर्शन के ३६ तत्त्वों तथा ७ प्रकार के प्रमाताओं का आगम के अनुसार विवरण एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ तत्त्वसंग्रहाधिकार में पहले के अधिकारों का संक्षेप प्रस्तुत किया गया है तथा परमशिव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

उत्पल ने सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त एवं बौद्ध, विशेषतः सौत्रान्तिक का प्रबल खण्डन किया है।

शिवदृष्टि की अपेक्षा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अपने विवेचन की पूर्णता, व्यापकता एवं विशदता के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध है। इसी के कारण इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा पड़ा। जाति, वर्ण, लिंग आदि के भेदों को मिटाकर यह दर्शन जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने को पहचान लेने का मार्ग बतलाता है जो साधना की दृष्टि से सुकर, सुगम एवं सहज है।

---

१. श्रीसोमानन्दग्रन्थस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्। ई० प्र०, १-२

उत्पलदेव के अन्य ग्रन्थ—अभिनवगुप्त के द्वारा अनेकशः उद्धृत, उत्पलदेव के ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

(१) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति**—यह उत्पलदेव की ही स्वयं की ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा पर एक लघु टीका है, जो उन्होंने दार्शनिक अंशों को स्पष्ट करने के लिए लिखी थी।

(२) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति या टीका**--यह महत्त्वपूर्ण टीका अभी तक उपलब्ध न हो सकी है। अभिनवगुप्त ने इस पर एक विस्तृत टीका लिखी है जिसका नाम है **वृहतीविमर्शिनी**।

(३) **अजड़प्रमातृसिद्धि**।

(४) **ईश्वरसिद्धि**।

(५) **सम्बन्धसिद्धि**।

उत्पल ने इन संक्षिप्त ग्रन्थों का निर्माण ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के सहायक ग्रन्थों के रूप में किया था। इनमें क्रमशः प्रमाता के चेतन होने, ईश्वर तथा विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन है। उन्होंने तीनों पर वृत्ति लिखी है। दुर्भाग्यवश अजडप्रमातृसिद्धि पर वृत्ति अब उपलब्ध नहीं है। प्रथम में बौद्धों के अनात्मवाद तथा दूसरे में सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया तथा तीसरे में बौद्ध आदि के सम्बन्ध-सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

(६) शिवदृष्टि पर भी उत्पल ने **वृत्ति** लिखी थी, जो केवल १–४ आह्निकों पर उपलब्ध है। शिवदृष्टि के ५–६ आह्निकों पर वृत्ति के उपलब्ध न होने के कारण मूल ग्रन्थ को समझ पाना दुर्गम हो गया है।

(७) **शिवस्तोत्रावली**—शिव की स्तुति में विरचित दार्शनिक अर्थों से गुम्फित भावपूर्ण पद्यों का ललित संग्रह है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पलदेव ने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे होंगे क्योंकि अभिनवगुप्त अनेकधा उनके मतों का उल्लेख करते हैं[१]। जो उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्य नहीं हैं।

अभिनवगुप्त के टीकाग्रन्थ

(१) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**—लघ्वीवृत्ति।

(२) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** (बृहतीवृत्ति)—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रथम टीका छोटी है और दूसरी बड़ी। वस्तुतः इन टीकाओं के बिना ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को समझ पाना असंभव-सा है।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १·४·३; २·२·७; २·३·२; ३·२·१६।

(३) **परात्रीशिकाविवरण**—परात्रीशिका भैरव एवं भैरवी के संवाद में लिखी हुई ३० कारिकाओं की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक कृति है। इसमें तान्त्रिक गुह्य साधना का भैरव द्वारा उपदेश है। अभिनवगुप्त ने सोमानन्द की वृत्ति के आधार पर विवरण लिखा है जो अनेकत्र सोमानन्द कृत वृत्ति को उद्धृत करता है।

(४) **शिवदृष्ट्यालोचन**—जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि यह सोमानंद की शिवदृष्टि पर टीका रही होगी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह उपलब्ध नहीं है।

(५) **भगवद्गीतार्थसंग्रह**—श्रीमद्भगवद्गीता पर यह अत्यंत संक्षिप्त टीका है।

अभिनवगुप्त ने अन्य शैवागमों पर टीकायें लिखी थी। हमें उनका संदर्भ अभिनवगुप्त की वृत्तियों में प्राप्त होता है। किन्तु अब वह उपलब्ध नहीं हैं उदाहरण के लिए, उन्होंने अपने **क्रमस्तोत्र** पर **क्रमकेलि** नाम से टीका लिखी थी जो अभी तक उपलब्ध न हो सकी है।

अभिनवगुप्त के मौलिक ग्रन्थ

(१) **तन्त्रालोक**—अभिनवगुप्त की विभिन्न मौलिक कृतियों में तन्त्रालोक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय है। वस्तुतः यह शैव आचार, साधना, योग एवं तान्त्रिक कर्मकाण्ड का विश्वकोष है। इसके संबंध में विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

(२) **तन्त्रसार**—यह ग्रन्थ तन्त्रालोक के प्रमुख विषयों का सार अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

(३) **तन्त्रवटधानिका**—तन्त्रसार का ही यह पद्यात्मक सार है जिसे संभवतः अभिनवगुप्त ने नहीं अपितु सनाम सम्बन्धी ने लिखा था।

(४) **मालिनीविजयवार्तिक**—मालिनीविजयतन्त्र के अत्यन्त गुह्य विषयों का विवरण इस ग्रंथ में विस्तार से मिलता है। शैव योग की विभिन्न साधनाओं का इसमें रहस्य उन्मीलित है। शैवदर्शन की व्यापक दृष्टि तथा उसकी तार्किकता की प्रतिष्ठा भी इस **वार्तिक** में प्राप्त होती है।

सामान्य जनता के लिए सरल भाषा में शैव दर्शन एवं साधना को प्रस्तुत करने के लिए अभिनवगुप्त ने छोटी-छोटी अनेक रचनायें की हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(२) **बोधपंचदशिका**—इसमें कुल सोलह पद्य हैं जिनमें सृष्टि एवं कारणवाद. शिवशक्तिसंबंध, बंधन एवं मोक्ष का स्वरूप सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

(२) **परमार्थ सार**—इसमें १०५ कारिकायें है। वस्तुतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त के शेष मुनि-प्रणीत ग्रन्थ को ही त्रिक दर्शन के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों के अनुरूप संशोधित एवं परिष्कृत कर अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

(३) **परमार्थ चर्चा**—यह छोटी सी पुस्तक है जिसमें परमतत्त्व का स्वरूप एवं सासांरिक कार्य करते हुए उसके साक्षात्कार का उपाय बताया गया है।

(४) परामार्थद्वादशिका—यह भी उपर्युक्त ग्रन्थ की भांति परमार्थ के स्वरूप का विवेचन करता है यह अभिनवगुप्त की ही कृति है, इसमें संदेह है।

अभिवनगुप्त ने शिव एवं शक्ति की स्तुति में अनेक रमणीय स्तोत्र भी लिखे हैं जो उनकी काव्य प्रतिभा पुवं परमभक्ति के द्योतक हैं, साथ ही उनकी रहस्यानुभूति के प्रमाण हैं। इन स्तोत्रों में प्रमुख निम्नांकित हैं—

(१) **क्रमस्तोत्र**—काली की स्तुति में विरचित इस स्तोत्र में ३० पद्य हैं जिनमें से अनेक शाक्त उपाय के गुह्य तत्त्वों को सहज अनावृत करते हैं।

२ः **भैरवस्तोत्र**—इसमें कुल दस पद्य हैं जो अभिनवगुप्त के भैरव के साथ तादात्म्य के अनुभाव को कवि की ललित एवं रागात्मक भाषा में प्रस्तुत करते हैं।

३. **अनुत्तराष्टिका**—आठ पद्यों की इस रचना में आत्म-साक्षात्कार के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप का प्रतिपादन है।

(४) **अनुभवनिवेदनस्तोत्र**—इसमें कुल चार पद्य हैं जिसमें शाम्भवी-मुद्रा का स्वरूप-वर्णन है।

५. **देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र**—इसमें पन्द्रह पद्य हैं। विभिन्न इन्द्रियों आदि को नियन्त्रित करने वाली अधिष्ठात्री शक्तियों की अर्चना इस स्तोत्र में मुखरित हुई है।

अभिनवगुप्त की अनेक रचनाएँ, जिनका उल्लेख हमें इधर-उधर बिखरे संन्दर्भों में प्राप्त होता है, अभी तक मिल नहीं पाई है। अभिनवगुप्त

के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व के लिए डॉ० के० सी० पाण्डेय का शोध-ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

अन्य प्राचीन आचार्य

१. **भट्टनारायण**--इनकी कृति है **स्तवचिन्तामणि**, जो शिव की स्तुति में प्रणीत अत्यंत मनोहर स्तोत्र है। क्षेमराज के अनुसार यह परमेश्वर के पौत्र तथा अपराजित के पुत्र थे। अभिनवगुप्त ने इनका प्राचीन गुरु में उल्लेख किया है[1]।

२. **भट्टभास्कर**--इनकी रचना **शिवसूत्रवार्तिक** है। यह वसुगुप्त के **शिवसूत्र** पर ३९० पद्यों में टीका है जो शिवसूत्र के गुह्यसिद्धांतों की सरल भाषा में व्याख्या करने के लिए लिखी गई थी। भट्टभास्कर ने वसुगुप्त (८२५ ई०) की परम्परा में अपने को सातवीं पीढ़ी का शिष्य घोषित किया है[2]।

३. **भट्टप्रद्युम्न**—इनकी अनुपलब्ध कृति है **तत्त्वगर्भस्तोत्र**। इसमें शिव की अपेक्षा शक्ति को प्रधानता दी गई थी। सोमानन्द,[3] उत्पलदेव[4] तथा रामकण्ठ[5] ने इस स्तोत्र के पद्यों को उद्धृत किया है। भट्टप्रद्युम्न सोमानन्द तथा रामकण्ठ के समकालीन प्रतीत होते हैं। सोमानन्द ने अपनी **शिवदृष्टि** में भट्टप्रद्युम्न के मतों का खण्डन किया है[6]।

४. **भूतिराज**--अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक तथा तन्त्रसार में अनेकत्र भूतिराज का उल्लेख किया है। ब्रह्मविद्या का उपदेश अभिनवगुप्त ने इनसे प्राप्त किया था। यद्यपि भूतिराज की कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है किन्तु **तन्त्रसार**[7] में उनका उद्धरण प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने यह भी लिखा है कि उनके पिता ने श्रीभूतिराज से शैवशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था[8]।

---

१. परात्रीशिका विवरण, पृ० ६९.
२. शिवसूत्रवार्तिक का प्रारंभिक पद्य
३. शिवदृष्टि, ३.१.
४. शिवदृष्टिवृत्ति, १.१५.
५. स्पन्दविवृति, पृ० १२९.
६. शिवदृष्टि, ३.२.३.
७. तन्त्रसार, पृ० ३०.
८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ?

लक्ष्मणगुप्त, भूतराजतनय (अर्थात् भूतेन्दुराज), प्रज्ञार्जुन, महादेवभट्ट, श्रीकण्ठभट्ट आदि अनेक शैव दर्शन के आचार्यों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है किन्तु इनमें से किसी भी आचार्य की रचना उपलब्ध नहीं है।

शिवसूत्र की टीकाएँ

नवम शताब्दी के वसुगुप्त को प्राप्त **शिवसूत्र** शैवसाधना के प्रमुख प्रतिपादक हैं जो अनुषंगतः शैवदर्शन की मान्यताओं को भी प्रतिपादित करते हैं। इसकी टीकाएँ निम्नांकित है—

१. **शिवसूत्रवृत्ति**—शिवगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट (८५५ ई०) के नाम से प्रचलित यह टीका अत्यंत संक्षिप्त है जो कदाचित् क्षेमराज की **शिवसूत्रविमर्शिनी** का सार प्रस्तुत करती है।

२. **शिवसूत्रवार्तिक**—भट्टभास्कर (९५५ ई०) की यह वार्तिक ३९० पद्यों में है, जो त्रिकयोग के गुह्य तत्त्वों का व्याख्यान प्रस्तुत करती है। वसुगुप्त की शिष्य-परम्परा में भट्टभास्कर सातवीं पीढ़ी के हैं, जेसाकि इनकी **वार्तिक** के प्रारंभिक पद्य से ज्ञात होता है।

३. **शिवसूत्रविमर्शिनी**--अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य क्षेमराज की यह अत्यंत विस्तृत शिवसूत्रटीका है।

४. **शिवसूत्रवार्तिक**--वरदराज क्षेमराज के केरल-निवासी शिष्य थे जिन्होंने अपने गुरु क्षेमराज की **विमर्शिनी** के आधार पर वार्तिक का प्रणयन किया था।

स्पन्दकारिका की टीकाएँ

वसुगुप्त के शिष्य तथा राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई०) के समकालीन भट्टकल्लट सिद्ध रूप में प्रसिद्ध थे[1]। उनकी कृति स्पंदकारिका की निम्नांकित टीकाएँ हैं--

१ **स्पन्दसर्वस्व**--भट्टकल्लट द्वारा अपनी स्पन्दकारिका पर विरचित अत्यंत संक्षिप्त स्वोपज्ञा वृत्ति है जिसे स्पन्दवृत्ति भी कहा जाता है।

२. **स्पन्दविवृति**--रामकण्ठ (८७५ ई०) ने **स्पन्दसर्वस्व** का विशद व्याख्यान प्रस्तुत करने के लिए इस विवृति का प्रणयन किया था। रामकण्ठ भट्टकल्लट के समकालीन, उत्पलदेव के शिष्य तथा अवन्तिवर्मा के

---

१. राजतरंगिणी, ५.६६.

समकालीन मुक्ताकण के अनुज[1] थे। उन्होंने भगवद्गीता तथा **मातंगतन्त्र** पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

३. **स्पन्दनिर्णय**--क्षेमराज ने इस टीका का निर्माण अन्य टीकाओं की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए किया था[1]। स्वभावतः यह टीका अधिक विस्तृत एवं विशद है। पं० मधुसूदन कौल ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

४. **स्पन्दसंदोह**--स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका की यह अत्यंत विशद टीका है जिसे क्षेमराज ने स्पंदसिद्धांत को विस्तार से समझाने के लिए लिखा है।

५. **स्पन्दप्रदीपिका**—उत्पलवैष्णव की यह टीका विस्तृत, सारगर्भित तथा वैदुष्यपूर्ण है। इसमें अनेक अनुपलब्ध तन्त्रग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त होते हैं।

क्षेमराज के ग्रन्थ

अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार क्षेमराज हैं जिनका समय ११ वीं शताब्दी है। इनके मौलिक ग्रन्थ निम्नांकित हैं--

१. **प्रत्यभिज्ञाहृदय**—सूत्र तथा वृत्ति में विचरित यह ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञादर्शन को समझाने के लिए अत्यंत सुबोध तथा महत्त्वपूर्ण है। इसका ऐमिलवेरल द्वारा जर्मन में, लेडेकर द्वारा तथा जयदेव सिंह द्वारा अंग्रेजी में, तथा विशालप्रसाद त्रिपाठी द्वारा हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

२. **पराप्रवेशिका**--शैवदर्शन को बालावबोधाय प्रस्तुत करने के लिए यह लघु पुस्तिका है।

३. **बोधविलास**--प्रत्यभिज्ञाहृदय के सार को कारिकाओं में इस ग्रन्थ में सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है।

क्षेमराज द्वारा प्रणीत टीकाएँ निम्नांकित हैं--

१. शिवसूत्रविमर्शिनी
२. स्पन्दसंदोह

---

१. स्पन्दनिर्णय, पृ० ७७७.

३. स्पन्दनिर्णय
४. स्तवचिन्तामणि-विवृति
५. विज्ञान भैरव-उद्योत (खण्डित)
६. स्वच्छन्दतन्त्र-उद्योत
७. नेत्रतन्त्रउद्योत
८. शिवस्तोत्रावली-टीका
९. सांबपंचाशिका-टीका

परवर्तीग्रन्थकार

शैवदर्शन के परवर्ती ग्रन्थकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१. **योगराज** (११०० ई० का उत्तरार्ध)—क्षेमराज के शिष्य योग-राज ने अभिनवगुप्त कृत परमार्थसार की टीका लिखी है।

२. **महेश्वरानन्द**—इन्होंने महाराष्ट्रीय अपभ्रंश में **महार्थमंजरी** लिखी है। क्षेमराज को इन्होंने उद्धृत किया है तथा विज्ञानभैरव के टीका-कार शिवोपाध्याय ने इनका उल्लेख किया है[1]। अतः इनका समय १२ वीं शताब्दी में है। डॉ राघवन के अनुसार ये चोलकालीन हैं। कुल-सम्प्रदाय के अनुसार शैव-अद्वैतवाद की इन्होंने अभिनवगुप्त के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की है।

३. **मधुराज**—ये केरल के निवासी थे जिन्होंने अभिनवगुप्त से शिक्षा प्राप्त की थी। इन्होंने **गुरुनाथ-परामर्श** नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने अभिनवगुप्त के स्वरूप का वर्णन किया है।

४. **वरदराज**—मधुराज के पुत्र वरदराज क्षेमराज के शिष्य थे। इनका समय ११ वीं शताब्दी का अंतिम भाग है। क्षेमराज की **विमर्शिनी** के आधार पर प्रणीत वसुगुप्त के शिवसूत्र की टीका इनकी एकमात्र कृति है जिसका नाम है **शिवसूत्रवार्तिक**।

५. **जयरथ** (१२०० ई०)—तन्त्रालोक की **विवेक** टीका तथा वाम-केश्वरी मत की **टीका**। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है।

६. **नारायणकण्ठ** (११०० ई०)—शंकर के पौत्र तथा विद्याकण्ठ के पुत्र नारायणकण्ठ ने मृगेन्द्रतन्त्र पर **वृत्ति** लिखी है।

---

१. विज्ञानभैरवविवृति, पृ० १०९.

७. **शितिकण्ठ** (१२ वीं ई० का उत्तरार्ध)—काश्मीरी अपभ्रंश में लिखित **महानय-प्रकाश** कुल सम्प्रदाय का अनुसरण करता है।

८. **साहिबकौल**--शाहजहां तथा औरंगजेब के समकालीन साहिबकौल सिद्धपुरुष थे जिन्होंने अपने **देवीनामविलास** में वेदान्त एवं शैव अद्वैतवाद का समन्वय प्रस्तुत किया है। इसमें भवानी के एक सहस्र नामों का काव्यमय उल्लेख है। श्रीविद्या के उपासक नाथ-सिद्धों की परम्परा में श्रीसाहिबकौल एक सिद्ध पुरुष थे। उनकी अन्य कृतियां हैं--

१. कल्पवृक्ष प्रबन्ध
२. सच्चिदानन्दकन्दली
३. शिवजीवदशकम्
४. आत्मकथा (यह काश्मीरी भाषा में लिखी गई है)।

९. **शिवोपाध्याय**--काश्मीरी शैव दर्शन की परम्परा के अंतिम कवि हैं। इन्होंने विज्ञान-भैरव पर टीका लिखी है तथा श्रीविद्या नामक मौलिक ग्रन्थ लिखा है जो अभी तक अप्रकाशित है।

१०. **भास्करकण्ठ**—इन्होंने अभिनवगुप्त की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** पर भास्करी लिखी है तथा **लल्लेश्वरी-वाक्यानि** का अनुवाद किया है। भास्करी का दो खण्डों में आलोचनात्मक सम्पादन प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर तथा डा० के०सी० पाण्डेय ने किया है।

परमार्थसार की टीका विवृति की विशेषता

मेरी इच्छा मूल ग्रन्थ के साथ-साथ विवृति को भी मूलरूप में देने की थी किन्तु प्रकाशकीय भ्रान्ति के कारण वह छपने से रह गई। विवृतिकार योगराज ने अपनी टीका में सर्वाधिक उद्धरण गीता एवं उपनिषद् (श्रुति) से दिये हैं। शैवदर्शन के ग्रंथों से उद्धरण देना तो नितान्त स्वाभाविक है साथ ही उन्होंने बौद्ध, ब्रह्मवादी (वेदान्ती), वैशेषिक आदि के मतो का भी उल्लेख किया है। इस तरह उनकी टीका में एक ओर शैवदर्शन के अभिमत को स्पष्ट और पुष्ट करना अभीष्ट है तो दूसरी ओर विभिन्न दार्शनिकों के मतों का खण्डन-मण्डन करते हुए, श्रुति किंवा उपनिषद् तथा गीता से परमार्थसार का समन्वय प्रधान लक्ष्य है। वस्तुतः स्वयं परमार्थसार भी उपनिषदों में प्रवर्तित एवं गीता में पल्लवित जीवनदृष्टि को अपने में ओत-प्रोत किये हुए है। ज्ञान द्वारा कर्मफल के विनाश तथा योगी आत्मज्ञ या जीवन्मुक्त की चर्या के प्रसंग गीता से अनेकत्र मिलते हैं। शिव के स्वरूप के निरूपण में तथा ज्ञान-अज्ञान की चर्चा में उपनिषद् की चिंतन

धारा स्पष्टतः दिखाई देती है। वस्तुतः 'तत्र को मोहः कः शोकः' इत्यादि शब्द भी परमार्थसार में प्रतिध्वनित हैं। जैसाकि विदित है अभिनवगुप्त ने गीता पर अपनी टीका भी लिखी थी जोकि प्रकाशित है। तन्त्र या शैव-साधना का मार्ग एवं दृष्टि श्रुति या गीता के मार्ग से तात्पर्यतः भिन्न नहीं है, यही अभिप्राय परमार्थसार के अध्ययन से और उसकी टीका के अनुसन्धान से प्रतिफलित होता है। टीका में उद्धृत प्रमाणवाक्यों की सूची प्रतीक रूप में परिशिष्ट में दी हुई है। ग्रन्थों तथा आचार्यों का अकारादिक्रम से पृष्ठ-सहित उल्लेख करना यहाँ उचित होगा। ग्रन्थ या आचार्य के अन्त में कोष्ठक के विना दी हुई संख्या परमार्थसार के पृष्ठ का निर्देश करती है। कोष्ठक के अन्तर्गत दी हुई संख्या उस पुस्तक के अध्यायादि का उल्लेख करती है :—अजडप्रमातृसिद्धि ५८, अवधूतसिद्धपाद १६, आगम २७, उपनिषद् (श्रुति) १९५३, श्रीकल्लट ६४, कक्ष्यास्तोत्र ७२, श्रीकालिकाक्रम ६३, श्रीकुल ११६, कुलरत्नमालिका १०४, गीता (२–२०), १०, ४२, (२–५२) ६२, (४–३७) ७५, (१८–१७) ९०, (८–५) १०३, (५–१५), (५–१६) १०९, (८–६), (१०–१०) १११, (१४–१४) ११४, (३–३३) ११५, (२-४०), (६–३७), (६–४५) १२०। छान्दोग्योपनिषद् (६–२–१) ६४, तन्त्रसार ५१, दिवाकरवत्स ५६, निर्वाणयोगोत्तर १०३, निशाटन १०४, परमेश्वरीपाद-उत्पल ७७, परमार्थसार ८, प्रमाणवार्तिक (प्रत्यक्षपरिच्छेद २२०), ८, ब्रह्म-वादी ४३, बौद्ध ४९, भर्तृहरि ६५, मनुस्मृति १०६, मार्कण्डेय पुराण (१५–१८) ४७, यथोक्तम् ३, ६; ७, १४, ४३, ४४, ७९, ८९, १०४, राजानकराम ९४, लक्ष्मी संहिता १०५, विवृतिविमर्शिनी २२, विष्णुधर्म ८०, विज्ञानवादी (बौद्ध) ४३, वीरवामनक भट्ट ९५, वैशेषिक ४३, शम्भुभट्टारक ४२, श्वेताश्वतरोपनिषद् (३–३) ५४, (३–१९) ७०, शिवधर्मोत्तरशास्त्र १२१. शिवसूत्र (३–२०) ५३, (१–८) ५४, (३–२७) ९८, शैवोपनिषद् ९७, (विज्ञानभैरव १५६) ९८, स्पन्दकारिका (१–३) १, (३–२) २, (३–१) १८, (१–१८) ५६, (३–२) ८३, स्वच्छन्दशास्त्र ९७, सर्वमंगलाशास्त्र ४, सांख्यकारिका (४४) ११३, त्रिंशिका ६५।

●
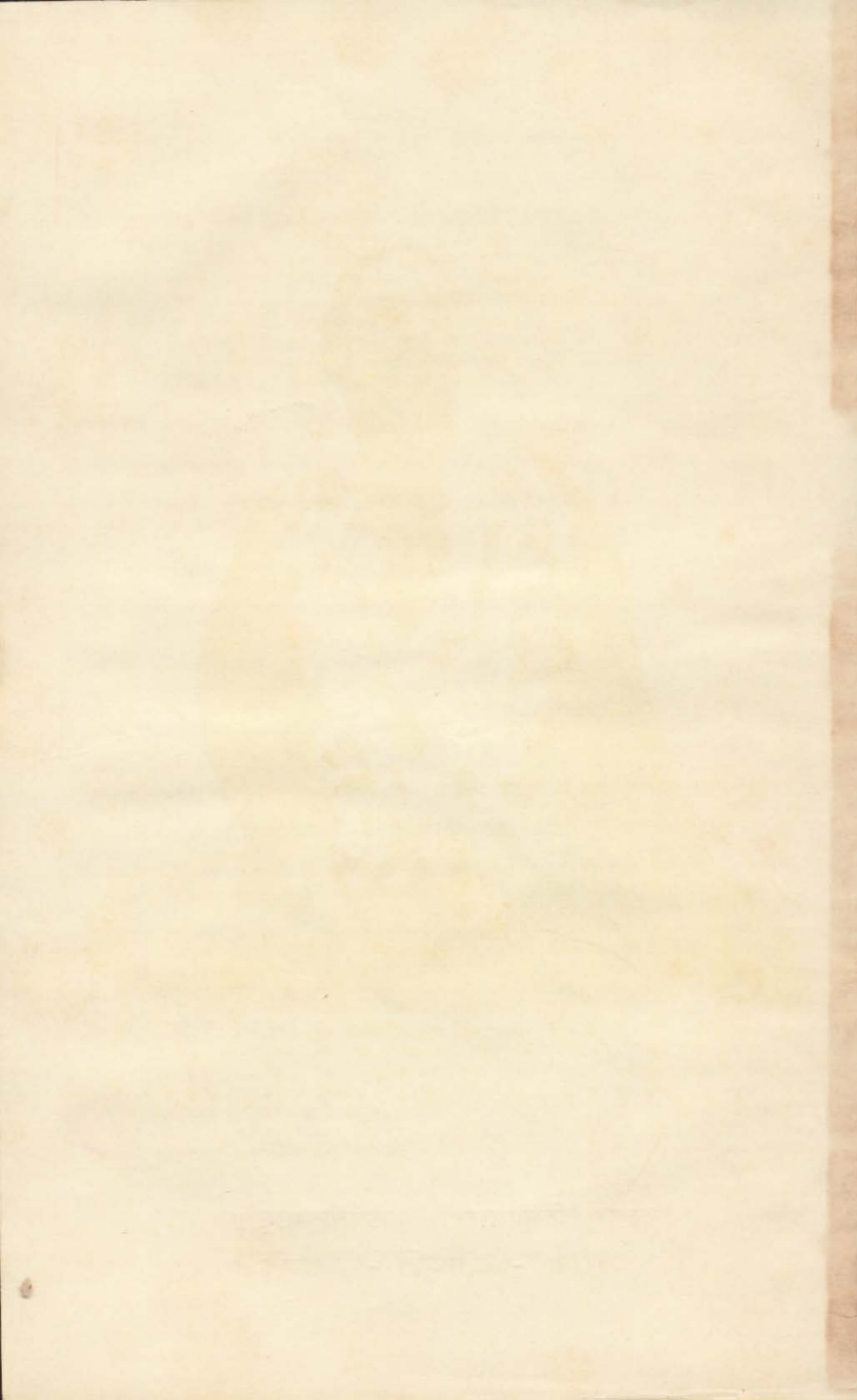
श्रीभगवदादिशेषप्रणीतम्

परमार्थसारम्

परं परस्याः प्रकृतेरनादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव विष्णुं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥
आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे भवाम्बुराशौ रमते मृषैव ॥ २ ॥
गर्भगृहवाससम्भवजरामरणविप्रयोगाब्धौ ।
जगदालोक्य निमग्नं प्राह गुरुं प्राञ्जलिः शिष्यः ॥ ३ ॥
त्वं साङ्गवेदवेत्ता भेत्ता संशयगणस्य ऋतवक्ता।
संसारार्णवतरणप्रश्नं पृच्छाम्यहं भगवन् ॥ ४ ॥
दीर्घेऽस्मिन् संसारे संसरतः कस्य केन सम्बन्धः।
कर्मशुभाशुभफलदमनुभवति (नु) गतागतैरिह कः ॥ ५ ॥
कर्मगुणजालबद्धो जीवः संसरति कोशकार इव।
मोहान्धकारगहनात् तस्य कथं बन्धनान्मोक्षः ॥ ६ ॥
गुणपुरुषविभागज्ञे धर्माधर्मौ न बन्धकौ भवतः।
इति गदितपूर्ववाक्यैः प्रकृतिं पुरुषं च मे ब्रूहि ॥ ७ ॥
इत्याधारो भगवान् पृष्टः शिष्येण तं स होवाच।
विदुषामप्यतिगहनं वक्तव्यमिदं शृणु तथापि त्वम् ॥ ८ ॥
सत्यमिव जगदसत्यं मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन।
त्वं प्रणिपत्योपेन्द्रं वक्ष्ये परमार्थसारमिदम् ॥ ९ ॥
अव्यक्तादण्डमभूदण्डाद् ब्रह्मा ततः प्रजासर्गः।
मायामयी प्रवृत्तिः संह्रियत इयं पुनः क्रमशः ॥ १० ॥
मायामयोप्यचेता गुणकरणगणः करोति कर्माणि।
तदधिष्ठाता देही सचेतनोऽपि न करोति किञ्चिदपि ॥ ११ ॥
यद्वदचेतनमपि सन् निकटस्थे भ्रामके भ्रमति लोहम्।
तद्वत्करणसमूहश्चेष्टति चिदधिष्ठते देहे ॥ १२ ॥
यद्वत् सवितर्युदिते करोति कर्माणि जीवलोकोऽयम्।
न च तानि करोति रविर्न कारयति तद्वदात्मापि ॥ १३ ॥
मनसोऽहङ्कारविमूर्च्छितस्य चैतन्यबोधितस्येह।
पुरुषाभिमानसुखदुःखभावना भवति मूढस्य ॥ १४ ॥

कर्त्ता भोक्ता द्रष्टास्मि कर्मणामुत्तमादीनाम् ।
इति तत् स्वभावविमलोऽभिमन्यते सर्वगोऽप्यात्मा ॥ १५ ॥
नानाविधवर्णानां वर्णं धत्ते यथामलः स्फटिकः ।
तद्वदुपाधेर्गुणभावितस्य भावं विभुर्धत्ते ॥ १६ ॥
गच्छति गच्छति सलिले दिनकरबिम्बं स्थिर्ति याति ।
अन्तःकरणे गच्छति गच्छत्यात्मापि तद्वदिह ॥ १७ ॥
राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थः प्रकाशते जगति ।
सर्वगतोपि तथात्मा बुद्धिस्थो दृश्यतामेति ॥ १८ ॥
सर्वगतं निरुपममद्वैतं तच्चेतसा गम्यम् ।
यद् बुद्धिगतं ब्रह्मोपलभ्यते शिष्य बोध्यं तत् ॥ १९ ॥
बुद्धिमनोऽहङ्कारास्तन्मात्रेन्द्रियगणाश्च भूतगणः ।
संसारसर्गपरिरक्षणक्षमाः प्राकृताः हेयाः ॥ २० ॥
धर्माधर्मौ सुखदुःखकल्पना स्वर्गनरकवासश्च ।
उत्पत्तिनिधनवर्णाश्रमा न सन्तीह परमार्थे ॥ २१ ॥
मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम् ।
तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तं निखिलं जगद्रूपम् ॥ २२ ॥
यद्वद्दिनकर एको विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु ।
तद्वत् सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा ॥ २३ ॥
खमिव घटादिष्वन्तर्बहिः स्थितं ब्रह्म सर्वपिण्डेषु ।
देहेऽहमित्यनात्मनि बुद्धिः संसारबन्धाय ॥ २४ ॥
सर्वविकल्पनहीनः शुद्धो बुद्धोऽजरामरः शान्तः ।
अमलः सकृद्विभातश्चेतन आत्मा खवद्व्यापी ॥ २५ ॥
रसफाणितशर्करिकागुणखण्डा विकृतयो यथैवेक्षोः ।
तद्वदवस्थाभेदाः परमात्मन्येव बहुरूपाः ॥ २६ ॥
विज्ञानान्तर्यामिप्राणविराड्देहजातिपिण्डान्ताः ।
व्यवहारास्तस्यात्मन्येतेऽवस्थाविशेषाः स्युः ॥ २७ ॥
रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गः सर्पभयं भवति हेतुना केन ।
तद्वत् द्वैतविकल्पभ्रान्तिरविद्या न सत्यमिदम् ॥ २८ ॥
एतत्तदन्धकारं यदनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या ।
न विदन्ति वासुदेवं सर्वात्मानं नरा मूढाः ॥ २९ ॥
प्राणाद्यनन्तभेदैरात्मानं संवितत्य जालमिव ।
संहरति वासुदेवः स्वविभूत्या क्रीडमान इव ॥ ३० ॥

त्रिभिरेव विश्वतैजसप्राज्ञैस्तैरादिमध्यनिधनाख्यैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तैर्भ्रमभूतैश्छादितं तुर्यम् ॥ ३१ ॥
मोहयतीवात्मानं स्वमायया द्वैतरूपया देवः ।
उपलभते स्वयमेव गुहागतं पुरुषमात्मानम् ॥ ३२ ॥
ज्वलनाद् धूमोद्गतिभिर्विविधाकृतिरम्बरे यथा भाति ।
तद्वद् विष्णौ सृष्टिः स्वमायया द्वैतविस्तरा भाति ॥ ३३ ॥
शान्त इव मनसि शान्ते हृष्टे हृष्ट इव मूढ इव मूढे ।
व्यवहारस्थो न पुनः परमार्थत ईश्वरो भवति ॥ ३४ ॥
जलधर धूमोद्गतिभिर्मलिनीक्रियते यथा न गगनतलम् ।
तद्वत् प्रकृतिविकारैरपरामृष्टः परः पुरुषः ॥ ३५ ॥
एकस्मिन्नपि च घटे धूमादिमलावृते शेषाः ।
न भवन्ति मलोपेता यद्वज्जीवोऽपि तद्वदिह ॥ ३६ ॥
देहेन्द्रियेषु नियताः कर्मगुणाः कुर्वते स्वभोगार्थम् ।
नाहं कर्त्ता न ममेति जानतः कर्म नैव बध्नाति ॥ ३७ ॥
अन्यशरीरेण कृतं कर्म भवेद् येन देह उत्पन्नः ।
तदवश्यं भोक्तव्यं भोगादेव क्षयोऽस्य निर्दिष्टः ॥ ३८ ॥
प्राग्ज्ञानोत्पत्ति चितं यत् कर्म ज्ञानशिखिशिखालीढम् ।
बीजमिव दहनदग्धं जन्म समर्थं न तद् भवति ॥ ३९ ॥
ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं क्रियमाणं कर्म यत् तदपि नाम ।
न श्लिष्यति कर्त्तारं पुष्करपत्रं यथा वारि ॥ ४० ॥
वाग्देहमानसैरिह कर्मचयः क्रियत इति बुधाः प्राहुः ।
एकोऽपि नाहमेषां कर्त्ता तत्कर्मणा नास्मि ॥ ४१ ॥
कर्मफलबीजनाशाज्जन्मविनाशो न चात्र सन्देहः ।
बुद्ध्वैवमपगततमाः सवितेवाभाति भारूपः ॥ ४२ ॥
यद्वदिषीकातूलं पवनोद्धूतं हि दश दिशो याति ।
ब्रह्मणि तत्त्वज्ञानात् तथैव कर्माणि तत्त्वविदः ॥ ४३ ॥
क्षीरादुद्धृतमाज्यं क्षिप्तं यद्वन्न पूर्ववत् तस्मिन् ।
प्रकृतेर्गुणेभ्यस्तद्वत् पृथक्कृतश्चेतनो नात्मा ॥ ४४ ॥
गुणमयमायागहनं निर्धूय यथा तमः सहस्रांशुः ।
वाह्याभ्यन्तरचारी सैन्धवघनवद् भवेत् पुरुषः ॥ ४५ ॥
यद्वद्देहोऽवयवा मृदेव तस्या विकारजातानि ।
तद्वत् स्थावरजङ्गमद्वैतं द्वैतवद् भाति ॥ ४६ ॥

एकस्मात् क्षेत्रज्ञाद् बह्वयः क्षेत्रज्ञजातयो जाताः ।
लोहगतादिव दहनात् समन्ततो विस्फुलिङ्गगणाः । ४७ ॥
ते गुणसङ्गमदोषाद् बद्धा इव धान्यजातयः स्वतुषैः ।
जन्म लभन्ते तावद् यावन्न ज्ञानवह्निना दग्धाः ॥ ४८ ॥

त्रिगुणा चैतन्यात्मनि सर्वगतेऽवस्थितेऽखिलाधारे ।
कुरुते सृष्टिमविद्या सर्वत्र स्पृश्यते तथा नात्मा ॥ ४९ ॥
रज्ज्वां भुजङ्गहेतुः प्रभवविनाशौ यथा न स्तः ।
जगदुत्पत्तिविनाशौ न च कारणमस्ति तद्वदिह ॥ ५० ॥
जन्मविनाशनगमनागममलसम्बन्धवर्जितो नित्यं ।
आकाश इव घटादिषु सर्वात्मा सर्वदोपेतः ॥ ५१ ॥
कर्म शुभाशुभफलसुखदुःखैर्योगो भवत्युपाधीनाम् ।
तत्संसर्गाद् बन्धस्तस्करसङ्गादतस्करवत् ॥ ५२ ॥
देहगुणकरणगोचरसङ्गात् पुरुषस्य यावदिह भावः ।
तावन्मायापाशैः संसारे बद्ध इव भाति ॥ ५३ ॥
मातृपितृपुत्रबान्धवधनभोगविभागसम्मूढः ।
जन्मजरामरणमये चक्र इव भ्राम्यते जन्तुः ॥ ५४ ॥

लोके व्यवहारकृतां य इहाविद्यामुपासते मूढाः ।
ते जन्ममरणधर्माणोऽन्धं तम एत्य खिद्यन्ते ॥ ५५ ॥

हिमफेनबुदबुदा इव जलस्य धूमो यथा वह्नेः ।
तद्वत् स्वभावभूता मायैषा कीर्तिता विष्णोः ॥ ५६ ॥
एवं द्वैतविकल्पां भ्रमस्वरूपां विमोहनीं मायाम् ।
उत्सृज्य सकलनिष्कलमद्वैतं भावयेद् ब्रह्म ॥ ५७ ॥

यद्वत् सलिले सलिलं क्षीरे क्षारं समीरणे वायुः ।
तद्वद् ब्रह्मणि विमले भावनया तन्मयत्वमुपयाति ॥ ५८ ॥
इत्थं द्वैतसमूहे भावनया ब्रह्मभूयमुपयाते ।
को मोहः कः शोकः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः ॥ ५६ ॥
विगतोपाधिः स्फटिकः स्वप्रभया भाति निर्मला यद्वत् ।
चिद्दीपः स्वप्रभया तथा विभातीह निरुपाधिः ॥ ६० ॥

गुणगणकरणशरीरप्राणैस्तन्मात्रजातिसुखदुःखैः ।
अपरामृष्टो व्यापी चिद्रूपोऽयं सदा विमलः ॥ ६१ ॥
द्रष्टा श्रोता घ्राता स्पर्शयिता रसयिता ग्रहीता च ।
देही देहेन्द्रियधीविवर्जितः स्यान्न कर्ताऽसौ ॥ ६२ ॥

एको नैकत्रावस्थितोऽहमैश्वर्ययोगतो व्याप्तः ।
आकाशवदखिलमिदं न कश्चिदप्यत्र सन्देहः ॥ ६३ ॥
आत्मैवेदं सर्वं निष्कलसकलं यदैव भावयति ।
मोहगहनाद्वियुक्तस्तदैव परमेश्वरीभूतः ॥ ६४ ॥

यद्यत्सिद्धागमतर्केषु प्रब्रुवन्ति रागान्धाः ।
अनुमोदामस्तत्तत्तेषां सर्वात्मवादधिया ॥ ६५ ॥
सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन ।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिवत्समभ्येति ॥ ६६ ॥

नारायणमात्मानं ज्ञात्वा सर्गस्थितिप्रलयहेतुम् ।
सर्वज्ञः सर्वगतः सर्वः सर्वेश्वरो भवति ॥ ६७ ॥
आत्मज्ञस्तरति शुचं यस्माद्विद्वान् बिभेति न कुतश्चित् ।
मृत्योरपि मरणभयं न भवत्यन्यत् कुतस्तस्य ॥ ६८ ॥
क्षयवृद्धिवध्यघातकं बन्धनमोक्षैर्विवर्जितं नित्यम् ।
परमार्थतत्त्वमेतद् यदतोऽन्यत् तदनृतं सर्वम् ॥ ६९ ॥

एवं प्रकृतिं पुरुषं विज्ञाय निरस्तकल्पनाजालः ।
आत्मारामः प्रशमं समास्थितः केवलीभवति ॥ ७० ॥
नलकदलिवेणुवाणा नश्यन्ति तथा स्वपुष्पमासाद्य ।
तद्वत्स्वभावभूताः स्वभावतां प्राप्य नश्यन्ति ॥ ७१ ॥

भिन्नेऽज्ञानग्रन्थौ छिन्ने संशयगणे शुभे क्षीणे ।
दग्धे च जन्मबीजे परमात्मानं हरिं याति ॥ ७२ ॥
मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानमयग्रन्थेर्भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम् ॥ ७३ ॥
बुद्ध्वैवमसत्यमिदं विष्णोर्मायात्मकं जगद्रूपम् ।
विगतद्वन्द्वोपाधिकभोगासङ्गो भवेच्छान्तः ॥ ७४ ॥

बुद्ध्वा विभक्तां प्रकृतिं पुरुषः संसारमध्यगो भवति ।
निर्मुक्तः सर्वकर्मभिरम्बुजपत्रं यथा सलिलैः ॥ ७५ ॥
अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः ।
यत्र क्वचन च शायी विमुच्यते सर्वभूतात्मा ॥ ७६ ॥

हयमेधसहस्राण्यप्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि ।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ॥ ७७ ॥
मदकोपहर्षमत्सरविषादभयपरुषवर्ज्यवाग्बुद्धिः ।
निःस्तोत्रवषट्कारो जडवद्विचरेदगाधमतिः ॥ ७८ ॥

उत्पत्तिनाशवर्जितमेवं परमार्थमुपलभ्य ।
कृतकृत्यसफलजन्मा सर्वगतस्तिष्ठति यथेष्टम् ॥ ७९ ॥
व्यापिनमभिन्नमित्थं सर्वात्मानं विधूतनानात्वम् ।
निरुपमपरमानन्दं यो वेद स तन्मयो भवति ॥ ८० ॥
तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥ ८१ ॥
पुण्याय तीर्थसेवा निरयाय श्वपचमदननिधनगतिः ।
पुण्यापुण्यकलङ्क-स्पर्शाभावे तु किं तेन ॥ ८२ ॥
वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः क्षितौ पतति ।
तद्वद् गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवलीभवति ॥ ८३ ॥
परमार्थमार्गसाधनमारभ्याप्राप्य योगमपि नाम ।
सुरलोकभोगभोगी मुदितमना मोदते सुचिरम् ॥ ८४ ॥
विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा ।
भुवनेषु सर्वदेवैर्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः ॥ ८५ ॥
महता कालेन महान् मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य ।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यत्तत्परमं पदं विष्णोः ॥ ८६ ॥
वेदान्तशास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः ।
आर्यापञ्चाशीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम् ॥ ८७ ॥

॥ इति भगवदादिशेषप्रणीतं परमार्थसारं सम्पूर्णम् ॥

कारिकानुक्रमणी

विषय-सूची

●

॥ ॐ नमश्चिदात्मपरमार्थवपुषे ॥

परमार्थसार

(योगराजकृत विवृति का सटिप्पण हिन्दी अनुवाद)

परं परस्थं गहनाद् अनादिम्
एकं विशिष्टं बहुधा गुहासु ।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं
त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

कारिकार्थ—पूर्ण, गहन (माया) से परे स्थित, अनादि, एक, अनेक रूपों से गुहाओं (प्रमाताओं) में प्रविष्ट, सभी के विश्रान्तिस्थान, समग्र चराचर में व्याप्त शम्भु तुम्हारी ही शरण ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

विवृत्यर्थ—इस मंगलपद्य में परमेश्वर के प्रति प्रवणता का प्रतिपादन है, जो वस्तुतः परिमित प्रमातृ-भाव को छोड़कर चिदानन्दघन स्वात्मदेवता में समावेश ही है। इसीलिये शम्भु की शरण ग्रहण करने का अभिप्राय स्वात्मदेवताकार के साथ समावेश का आपादन है। 'पूर्ण' का अर्थ है चिद् आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों से सम्पन्न तथा अनुत्तरस्वरूप। शिव से लेकर विद्यातत्त्व तक का शुद्धाध्वा कहलाता है तथा माया से प्रारम्भ कर पृथ्वी पर्यन्त अशुद्ध अध्वा, जिसे यहाँ 'गहन' शब्द से बताया गया है। शम्भु मायीय (अशुद्ध) अध्वा में स्थित न होकर सर्वदा शुद्धाध्वा में अवस्थित रहता है अतः उसे गहन (माया) से परे स्थित कहा गया है। इस स्वरूप में सदा स्थित रहने पर भी वह स्वेच्छा से तत्तत् रूपों को धारण करता रहता है तथापि उसका पूर्णत्व विनष्ट नहीं होता। इस प्रसंग में स्पन्दकारिका (१।३) की यह उक्ति उल्लेख्य है : 'परम तत्त्व से एकाकार जाग्रत् आदि भेदों के रहने पर भी वह अपने ज्ञातृ-स्वरूप से च्युत नहीं होता।'

समग्र प्रतीतियों का प्रमाता किंवा अनुभविता होने के कारण शम्भु 'अनादि' है। किसी भी प्रतीति (ज्ञान) का तब तक अस्तित्व नहीं स्वीकारा जा सकता जब तक प्रमाता या ज्ञाता स्वयं सिद्ध न हो। प्रमाता

की पूर्वता के बगैर प्रतीति या अनुभव सिद्ध ही नहीं होता इसलिये शम्भु को समग्र प्रतीतियों का स्वतःसिद्ध अनुभविता होने के कारण अनादि कहा गया है। वह 'एक' है क्योंकि समग्र भेद प्रपंच चित् के साथ एकाकार होकर ही प्रतिभात होता है। सभी भेदों की चित् के साथ एकात्मता होने के कारण परम तत्त्व को एक ही स्वीकारना होगा। एक होने पर भी परम तत्त्व अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से विभिन्न प्रमाताओं (जैसे कि रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि) की अन्तर्गुहा में अन्तर्यामी बनकर अवस्थित रहता है। वह चेतन होकर भी स्वयं जड़ एवं चेतन का पार्थक्य स्वेच्छा से उद्भासित कर नट की भाँति अनेक प्रमाताओं के रूप में प्रकाशित होता है और अन्ततः उन सभी प्रमाताओं का आलय या विश्रान्ति-स्थान है। यह जो कुछ भी चराचर विश्व है उसकी परम तत्त्व से अतिरिक्त स्थिति ही नहीं है, वही इस सारे विश्व का कर्ता है अतः सर्वात्मक है। वही परम प्रमाता ग्राहक और ग्राह्य, भोक्ता और भोग्य, द्रष्टा और दृश्य के रूप में निरन्तर प्रकाशमान है :—

"भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।" (स्पन्दकारिका ३।२)।

(वह परमतत्त्व भोक्ता होकर ही भोग्य रूप में सदा सर्वत्र स्थित है) ॥ १ ॥

गर्भाधिवासपूर्वकमरणान्तकदुःखचक्रविभ्रान्तः ।
आधारं भगवन्तं शिष्यः पप्रच्छ परमार्थम् ॥ २ ॥
आधारकारिकाभिः तं गुरुरभिभाषते स्म तत्सारम् ।
कथयत्यभिनवगुप्तः शिवशासनदृष्टियोगेन ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—**गर्भ में अवस्थिति से लेकर मरण तक के दुःखचक्र में विभ्रान्त शिष्य ने आधार भगवान् से परमार्थ पूछा ॥ २ ॥**

उसे अभिनवगुप्त गुरु ने आधार कारिकाओं के द्वारा उस (परमार्थ) का सार शिवशासन दृष्टि के अनुसार बताया ॥ ३ ॥

विवृत्यर्थ—'आधार भगवान्' अर्थात् शेषमुनि अथवा अनन्तनाथ ने सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय सुयोग्य शिष्य को परमार्थसार नामक ग्रन्थ में, जिसका दूसरा नाम आधारकारिका है, बताया था। उसी ब्रह्मोपदेश का प्रतिपादन परमाद्वय शैवसिद्धान्त के अनुसार गुरु अभिनवगुप्त, अभिनव अर्थात् अलौकिक

चिच्चमत्कार के रहस्य से युक्त, ने उस परम अर्थ के नवनीत समान उपदेश को परानुग्रह के लिये यहाँ बताया है। इस युगलक में अनुबन्ध-चतुष्टय—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, तथा प्रयोजन का भी प्रतिपादन है। परमार्थसार को ग्रहण करने का वही शिष्य अधिकारी है जो, गर्भ से लेकर मरण तक होने वाले ६ प्रकार के विकारों (जाति, सत्ता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा विनाश) के चक्र में संसरण स्वभाव के कारण आविर्भूत और तिरोभूत होता रहा है, जिसे प्राक् जन्मादि का बोध-स्मरण होता है, जो विरागी है तथा जिसके हृदय को परमेश्वर के अनुग्रह ने अनुविद्ध किया है, जिसमें सम्यग् ज्ञान उत्पन्न होने के कारण उपदेश-पात्रता आई है, वही परमेश्वरस्वरूप गुरु को प्राप्त कर परमाद्वय ज्ञान की इच्छा कर सकता है तथा वही गुरु द्वारा उपदेश का पात्र है[1]। जैसा कि कहा गया है :—

'शक्तिपात के बल से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है[2]।' तथा—'उसे परमज्ञान दिया जाता है तथा उसकी कर्मवासना क्षीण हो जाती है' ॥२–३॥

विविध वैचित्र्य से परिपूर्ण इस जगत् के संयोजन-वियोजन का विधायक परमेश्वर का निरतिशय स्वातन्त्र्य ही है। यह विश्व उसी की शक्ति का विकास है जो चार पिण्डों (अण्डों) में विभक्त है :—

निजशक्तिवैभवभराद् अण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा ॥ ४ ॥

---

१. तु०, अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधन-चतुष्टयसंपन्नः प्रमाता। —वेदान्तसार, पृ० ३

२. अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। (मुण्ड० १।२।१२।)। —वेदान्तसार, पृ० १८

गुरु की आवश्यकता के लिये उपनिषद्वाक्य उल्लेखनीय हैं :

(अ) शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्। —मुण्डकोपनिषद्, १-२-१२

(ब) आचार्यवान् पुरुषो वेद। —छान्दोग्योपनिषद्, ६-१४-२

कारिकार्थ—**अपनी शक्तियों के वैभव-समुद्रेक से महेश्वर द्वारा शक्ति माया, प्रकृति तथा पृथ्वी इन चार अण्डों को विभागशः प्रकाशित किया गया है ॥ ४ ॥**

विवृत्यर्थ—चिदानन्दैकघन स्वतन्त्र भगवान् महेश्वर विश्व का आच्छादक होने के कारण कोशरूप में वस्तु के पिण्डभूत इस अण्डचतुष्टय को प्रकाशित करता है। वस्तुपिण्ड अण्ड कहलाता है, अण्डसंज्ञा आच्छादक तथा कोश होने के कारण दी गई है। संसार का प्रकाशन अथवा निर्माण महेश्वर अपनी असाधारण इच्छा आदि शक्तिसमूह के विचित्र प्रसार के समुद्रेक से करते हैं। भगवान् की अपनी शक्तियों का विकासस्फार ही वस्तुतः जगत् का निर्माण है। जैसा कि **श्रीसर्वमंगलाशास्त्र** में कहा गया है :—

"दो पदार्थ हैं—शक्ति तथा शक्तिमान्। समग्र जगत् इस (महेश्वर) की शक्तियाँ हैं और शक्तिमान् है परमेश्वर।"

यह विश्व चार अण्डों में विभक्त है। वे चार अण्ड हैं—शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथ्वी। वस्तु का आच्छादक (आवरक) बनकर बाँधने वाला अण्ड कहलाता है। स्वस्वरूप का अपोहन करने वाली आत्मतत्त्व की अख्यातिमयी तथा निषेधव्यापाररूपा पारमेश्वरी शक्ति जब प्रमातृ-प्रमेयरूप इस विश्व की (जिसका सार परम अहंता है) आच्छादिका बनती है तो शक्त्यण्ड कहलाता है।

सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या तक के तत्त्व इस शक्त्यण्ड के अन्तर्गत आते हैं तथा शेष तीन आदि भी इसी अण्ड में गर्भित रहते हैं। इस शक्त्यण्ड के अधिपति स्वयं सदाशिव तथा ईश्वर हैं।

दूसरा है माया नामक अण्ड (अर्थात् मायाण्ड)। आणव, कार्म तथा मायीय[1] इन त्रिविध मलों से लक्षित यह अण्ड मोहप्रधान है, एवं भेदप्रधान होने के कारण सभी प्रमाताओं के लिये बन्धन-रूप है। पुरुषपर्यन्त तत्त्व इसी अण्ड के अन्तर्गत है। शेष दो अण्ड इसमें गर्भित हैं। इस अण्ड का अधिपति है रुद्र जिसको 'गहन' नाम से जाना जाता है।

---

१. मलों के सम्बन्ध में विस्तृत टिप्पणी २४ वीं कारिका के अन्तर्गत देखिये। यहाँ तन्त्रालोक का यह श्लोक उल्लेख्य है :—

देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम्।
तथापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥

—तन्त्रालोक, ९-५६

जब सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति कार्य तथा करण (अन्तः करण तथा इन्द्रियादि) के रूप में परिणत होकर, पशु-प्रमाताओं के लिये भोग्यरूपा तथा सुख-दुःख और मोह के रूप में बन्धयित्री होती है तो प्रकृत्यण्ड कहलाता है। इस अण्डका अधिपति है महाविभूति श्रीभगवान् विष्णु जो भेदप्रधान है।

पृथिव्यण्ड वह कहलाता है जब मनुष्य से लेकर स्थावर तक के प्रमाताओं के लिये पृथ्वी प्रत्येक प्रकार का रूप ग्रहण कर स्थूल कंचुक के रूप में बन्धन बनती है। इस पृथिव्यण्ड में भूतसर्ग चौदह प्रकार[1] का है। इसका प्रधान अधिपति ब्रह्मा है ॥ ४ ॥

इसी अण्डचतुष्टय के अन्तर्गत भोक्ता एवं भोग्य का विश्व अन्तर्भूत है जिसका निरूपण अगली कारिका में है :—

तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्रतनु-करण-भुवनसंतानम् ।
भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीतपशुभावः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—इन्हीं (**चार अण्डों**) **के अन्तर्गत** विचित्र **आकारों, इन्द्रियों तथा भुवनों के अविरत प्रवाह में यह विश्व** समाहित **है। इसमें भोक्ता है देही जो पशुभाव को ग्रहण करने वाला शिव ही है ॥ ५ ॥**

विवृत्यर्थ—आगमों में प्रसिद्ध इन्हीं चार (शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथिवी नामक) अण्डों में यह विश्व विद्यमान है। इस विश्व के रुद्र, क्षेत्रज्ञ के भेदों में अनेक मुख, हस्त, पाद आदि की रचनाओं के आकार हैं जो अपनी विशिष्ट संस्थिति से आश्चर्यजनक हैं। इसी प्रकार विलक्षण चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं। जैसे कि रुद्रप्रमाता की इन्द्रियाँ निरतिशय तथा सर्वज्ञत्व आदि गुणगणों से युक्त हैं जिनसे उन्हें सब कुछ का ज्ञान

---

१. सांख्यकारिकाकार ने भी चौदह प्रकार के भौतिक सर्ग को माना है—आठ प्रकार की दैव, पाँच प्रकार की तिर्यक् तथा एक प्रकार की मानुषी सृष्टि। इस प्रकार संक्षेप में चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि है :—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
—सांख्यकारिका, ५३।

तु० अष्टभेदान् सुरान् कृत्वा तिर्यग्योनिं च पंचधा ।
मनुष्यानेकभेदांश्च सृष्टिमेवं ससर्ज ह ॥
अवन्ती क्षेत्र० २।३१

दे० वायुपुराण ९।४०, ब्रह्माण्डपुराण १।८।४२, देवीपुराण १०।२।७

एक साथ एक क्षण में ही हो जाता है। किन्तु क्षेत्रज्ञ की इन्द्रियाँ उतनी समर्थ नहीं हैं, उनके ज्ञान एवं निर्माण की शक्ति सीमित है। परमेश्वर की नियतिशक्ति से नियमित होने के कारण वे केवल घटादि पदार्थों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। इन क्षेत्रज्ञ-प्रमाताओं में भी जो योगी हैं उनके करण अधिक समर्थ हैं। क्योंकि नियतिशक्ति को पार कर सकने के कारण दूर, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट (अतीत और अनागत) को योगी की इन्द्रियाँ माप सकती हैं तथा दूसरे प्रमाता के सुख-दुःख का भी अनुभव कर सकती हैं। इसी प्रकार पक्षियों की इन्द्रियाँ नियत शक्ति वाली होने पर भी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक समर्थ होती हैं। उदाहरण के लिये गौएँ अपने व्यवहित घर को भी देख लेती हैं, घोड़े रात में भी मार्ग पा लेते हैं, गृध्र सौ योजन तक के मांस को भी सूँघ लेते हैं। पक्षी, मक्खी तथा मच्छर तक आकाश में विहार करते हैं, सरीसृप छाती से रास्ता तै करते हैं और आँख से शब्द सुन लेते हैं, ऊँट दूर के गड्ढे से भी अपनी सांस से साँप को खींच लेते हैं। इस प्रकार से इन्द्रियवैचित्र्य के और भी उदाहरण समझे जा सकते हैं। इस विश्व के आगमप्रसिद्ध भुवन भी वर्तुल, त्रिकोण, चतुष्कोण, अर्धचन्द्र तथा छत्र आदि विचित्र आकारों के हैं। इस प्रकार इस विश्व में अनेक विचित्र आकार, इन्द्रिय तथा भुवनों की शृंखला है। इस तरह के भोग्य विश्व का भोक्ता भी अवश्य होना चाहिये। वह भोक्ता पशुप्रमाता कहलाता है जो सुख-दुःखादि का अनुभविता है, सुख-दुःखादिस्वभाव का है, शरीरी है तथा उसका तीन मलोंसे आविद्ध शरीर भोग का आयतन है। यह भोक्ता वस्तुतः शिव से भिन्न नहीं है। जैसाकि कहा है :—

"ब्रह्म का अंश भी सर्वात्मक, सर्वोत्तीर्ण तथा विकल्पों से परे हैं॥"

तथा—

"प्रत्येक तत्त्व में छब्बीसों तत्त्व हैं।" इस प्रकार एक ही महाप्रकाश परमेश्वर प्रमाता अपनी शक्तियों से युक्त होकर सर्वात्मतया प्रकाशित होता है। उससे भिन्न जो भी होगा वह अप्रकाश होगा और उसका अस्तित्व मान भी लिया तो प्रकाशमानता न होने के कारण अस्तित्व निश्चित हो ही न सकेगा।[1] जो भी प्रकाशित होता है वह परब्रह्म के साथ

१. प्रकाश और सत्ता एकार्थक हैं। महेश्वर ही महाप्रकाश है। उससे भिन्न किसी की कल्पना अप्रकाश की कल्पना करना होगा। अप्रकाश अनस्तित्व है, प्रकाश ही अस्तित्व है। इस प्रकार चित् और सत् पर्याय हैं। अचित् या अप्रकाश असत् ही होगा।

एकात्म होकर ही प्रकाशित होता है। भोक्ता और भोग्य का भेद भी उसी दृष्टि से उत्पन्न है[1]। पशु-प्रमाता या भोक्ता (अर्थात् शरीरी या देही) चिदानन्दैकघन, स्वातन्त्र्यस्वभाव शिव ही है जो अपने स्वरूप का गोपन कर स्वेच्छा से नट के समान देह-प्रमाता की भूमिका ग्रहण करता है, सुखदुःखादिमय स्वयं-निर्मित इस भोग्य भूमि में वही भोक्ता या देही कहा जाता है, जो पालनीय हो जाने के कारण 'पशु' है। वह भगवान् शिव ही खिलौने की तरह प्रमाता और प्रमेय के रूप में भोक्ता और भोग्य का निर्माण करता है जिसके आधार पर भेद का व्यवहार प्रारम्भ होता है। यह परमेश्वर का निरतिशय स्वातन्त्र्य ही है कि वह चिदानन्दघन अपनी पूर्णस्वरूपता का परित्याग कर भोक्ता और भोग्यस्वरूप पशुभाव को पाकर भी सभी प्रमाताओं में अनुभविता के रूप में स्वात्मप्रतिष्ठित रहता है।

एक चेतन प्रमाता को मायादिकृत प्रमातृ-प्रमेय-वैचित्र्य के द्वारा नानात्व के कारण अनेक हो जाने पर भी, एक कैसे कहा जा सकता है? नानात्व और एकत्व तो परस्पर विरुद्ध हैं, और यदि (वह स्वभावतः) एक ही है तो नानारूप कैसे हो सकता है। एक और नाना तो धूप और छाँह की तरह विपरीत हैं। एक ही पदार्थ एकरूप और अनेकरूप नहीं हो सकता। जैसाकि कहा जाता है:

"भावों (पदार्थों) का भेद अथवा भेद का कारण यही है कि (उनमें) विरुद्ध धर्मों का अध्यास हो अथवा उनके कारण भिन्न हों" ॥५॥

---

१. शांकरभाष्य के निम्नलिखित अवतरणों से इस बिन्दु की तुलना कीजिए:

उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः, एवं लोके दृष्टत्वात्। तथा हि समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरंगबुद्बुदादीनामितरेतर-विभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। न च समुद्रादुदकात्मनो-ऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरंगादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषा-मितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि। न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, न च परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (२-१-६-१४ पर, नि० सा० पृ० १९५-९६)

इस सम्बन्ध में कुछ वेदान्तवाक्य भी उल्लेखनीय हैं:

(क) ऐतदात्म्यमिदं स तत्सत्यं सर्वं आत्मा तत्त्वमसि। छान्दोग्य० ६-८-७

(ख) इदं सर्वं यदयमात्मा। बृहदारण्यकोपनिषत् २-४-६

(ग) ब्रह्मैवेदं सर्वम्। मुण्डकोपनिषद् २-२-११

(घ) आत्मैवेदं सर्वम्। छान्दोग्य० ७-२५-२

(ङ) नेह नानास्ति किंचन। बृहदारण्यकोपनिषत् ४-४-१९

इस प्रसंग में लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में युक्ति देते हैं :—

नानाविधवर्णानां रूपं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः ।
सुरमानुषपशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि ॥ ६ ॥

कारिकार्थ– **जिस प्रकार निर्मल स्फटिक (मणि) विविध वर्णों का रूप ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार महेश्वर भी देव, मनुष्य, पशु तथा पादप के रूप को (धारण कर लेता है) ॥ ६ ॥**

विवृत्यर्थ—स्फटिक मणि एक होने पर भी लाक्षा, नील आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के विभिन्न वैचित्र्य से चित्रित हो जाती है पर उसकी स्फटिकता विनष्ट नहीं होती। विभिन्न विशेषों से चित्रित होने पर भी स्फटिक मणि को स्फटिक मणि के रूप में ही पहिचाना जाता है, केवल यह व्यवहार अवश्य होता है कि मणि में लाक्षादि रंग चमक रहे हैं; पर यह लाक्षादि उपाधि उस मणि को उस तरह नहीं रँग पाती जैसे कि किसी कपड़े को जिसमें उसका स्वरूप ही विनष्ट हो जाय। मणि की यही अमलता है कि उपाधिजनित आकारों को ग्रहण करने पर भी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है। उसी प्रकार ईश्वर स्वतन्त्र, चिदेकघन तथा एक रहते हुये भी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर तक क्षेत्रज्ञ आदि अनेक स्वयं निर्मित भेदों को उसी प्रकार अपने से अभिन्न रूप मे धारण कर लेता है जैसे कि स्फटिक मणि वर्णवैचित्र्य को। इस प्रकार इसकी एकता को खण्डित करने वाला इससे भिन्न कोई देश, काल आदि नहीं है जिसके आधार पर महेश्वर में विरुद्ध धर्मों की आक्रान्ति (अध्यास) का आरोप लगाया जा सके। दूसरे दार्शनिक (बौद्ध) साक्षात्कारस्वरूप चित्रज्ञान (जो अनेक भेदों से आविष्ट होता है) को भी एक ही मानते हैं। जैसा कि प्रमाणवार्तिक में कहा है—

"चित्र-विज्ञान में नीलादि ज्ञान की उपाधि है, उस (ज्ञान) से भिन्न नहीं है (अर्थात् केवल है,) उसका (ज्ञान से पृथक् रूप से) दर्शन असम्भव है, उस (नील) का (पीत से) भेद करने वाला (प्रमाता भी) अर्थ (नील) में ही अन्तर्भूत है[1] ।"

प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद, २२०।

---

१. उपर्युक्त कारिका पर मनोरथनन्दि की वृत्ति उल्लेखनीय है—

अथवा चित्रत्वेऽपि बाह्यमेकं न युक्तम्, बुद्धिस्तु चित्राप्येकैवेति दर्शयितुमाह—नीलादिश्चित्रे ज्ञाने ज्ञानोपाधिरनुभवस्यात्मभूतः। अनन्यभाक् आकारान्तर-

सर्वतः पूर्ण, ज्ञाता, चिद्वपु तथा स्वतन्त्र शिव के लिये देश और काल (जो कि मूर्तिवैचित्र्य तथा क्रियावैचित्र्य मात्र है)[1] भेदक नहीं बन सकते। देश एवं काल की यदि संवित् से भिन्न स्थिति होती तभी इनके आधार पर विरुद्धधर्माध्यास की संभावना की जा सकती थी। पर इन दोनों की सत्ता की सिद्धि संवित् के प्रकाश पर ही निर्भर है अतः सिद्ध है कि अनेकस्वभाव होने पर भी चिन्मूर्ति महेश्वर एक ही है। भेदों को वास्तविक मान लेने पर तो विरुद्ध धर्मों की आक्रान्ति से छुटकारा संभव ही नहीं होगा ॥६॥

संवित्स्वरूप प्रमाता को एक ही माना गया है। वही अनेक आकारादि ग्रहण करके अनेक बन जाता है, ऐसी स्थिति में यह शंका उठ सकती है कि आकारादि के विनष्ट होने पर प्रमाता विनष्ट और उत्पन्न होने पर उत्पन्न होगा ? इस प्रकार शिव प्रत्येक प्रमाता में ६ प्रकार के जाति, सत्ता आदि भावविकारों से भिन्न बनेगा तथा विभिन्न प्रकार के पुण्यपापादि रूप कर्मों से इस शिव को स्वर्ग, नरकादि भोग प्राप्त होगा फिर भला यह कैसे कहा जा सकता है कि शिव स्वस्वरूप में ही अवस्थित रहता है ? उदाहरण के द्वारा उपर्युक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हैं:—

गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
तनु-करण-भुवनवर्गे तथाऽयमात्मा महेशानः ॥ ७ ॥

सहचरः केवल इत्यर्थः। तादृशोऽशक्यदर्शनः सहैवाकारान्तरवेदननियमात्। न हि चित्रे विज्ञाने समुत्पन्ने नीलं निरस्य पीतं शक्यदर्शनम्। तस्मादशक्यंविवेचनत्वं तुल्ययोगक्षेमत्वं सहप्रतिभासनियतत्वं ज्ञानात्मनां नीलादीनामेकत्वम् बाह्यात्मनां तु नैतत् सम्भवति, एकं पिधायापि द्रष्टुमन्यस्य शक्यत्वात्।

ननु ज्ञानाकारोऽपि नीलः पीतानुभवकाले यदा नानुभूयते, तदा शक्यविवेचन एव ? इत्याह—तमनुभूयमानात् पीतात् विवेचयन् भेदेन व्यवस्थापयन् प्रमाता अर्थ एव नीले पतति विवेचकत्वेन। परोक्षं तदा नीलमर्थ एव। अपरोक्षतैव तु ज्ञानस्वभावः। अतो यद् विविच्यते तदज्ञानम्। यज्ज्ञानं तन्न विविच्यत एव।

मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाणवार्तिक, पृ० १६६ बौद्धभारती वाराणसी, १९६८

१. मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, २, १, ५, (भास्करी, खण्ड २ पृ० १६)

कारिकार्थ—**जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब जल के चलने पर चलता-सा और ठहरने पर ठहरता-सा है, उसी प्रकार यह महेश्वर आत्मा शरीर इन्द्रिय तथा भुवनसमूह में (व्यवहार करता है) ।। ७ ।।**

विवृत्यर्थ—जिस प्रकार जल-प्रवाह के चलने पर चन्द्रबिम्ब, जो वस्तुतः आकाशस्थ है, जलप्रवाह में प्रतिबिम्बित होने पर भी स्वयं में अचल है, चलता-सा और उसी क्षण दूसरे निश्चल जलाशय में ठहरा-सा सभी लोगों को लगता है जब कि वस्तुतः वह न चलता, न ठहरता है। और न जलगत देशकाल चन्द्रमा के आकाशस्थ स्वरूप को भिन्न बना पाते हैं, केवल जल ही चलता और थिरता है तथा प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब जलगत चलन और स्थिरता के आधार पर चल और स्थिर इन भिन्नरूपों में व्यवहृत होता है। पर इस प्रतिबिम्ब के चल या स्थिर दिखाई देने पर भी चन्द्र-बिम्ब के स्वरूप की, चाहे वह गंगा के जल में पड़े या कीचड़ में, किसी प्रकार की हानि नहीं होती। उसी प्रकार यह आत्मा स्वयं द्वारा निर्मित तनु, करण, तथा भुवनसमूह के प्रक्षीण होने पर प्रक्षीण, तथा उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होता, माया से व्यामोहित लोगों द्वारा उसके (आत्मा के) उत्पन्न होने या मरने की बात केवल व्यवहार भर है जैसे कि जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के बारे में चलने या स्थिर होने की की जाती है। वस्तुतः वह आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है। गीता में कहा भी गया है :—

यह आत्मा कभी न उत्पन्न होता है और न मरता है। न यह उत्पन्न होकर फिर अभाव को प्राप्त करता है। यह, अज, नित्य, शाश्वत एवं पुराण है तथा शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता।

—भगवद्गीता, २-२०

इस प्रकार यह आत्मा महेश्वर तथा स्वतन्त्र है। सभी का स्वात्मरूप में प्रत्यवमर्श करना इसका स्वभाव है। सभी प्रमाताओं में यह अनुभविता के रूप में विद्यमान है और इसलिये विभिन्न अवस्थाओं का विनाश या उत्पत्ति होने पर स्वस्वरूप ही रहता है, (अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता)। यही संवित् तत्त्व का दुर्घट महासामर्थ्य है कि वह पशुप्रमाता के रूप में विभिन्न स्वर्गनरकादि के मार्गों का भोक्ता होने पर भी सर्वानुभविता होने के कारण संवित्स्वरूप ही बना रहता है। पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, भूख-प्यास आदि का जो नियत पशुभाव है, वह तभी संभव हो पाता है जब कि महेश्वर अपने स्वरूप से उसे प्रकाशित करते हैं तथा परामृष्ट करते हैं, अन्यथा यह पशुभाव निःस्वभाव (अथवा

सत्ताविहीन) ही बना रहे। ऐसी स्थिति में पशुभाव उस महेश्वर के स्वरूप का विनाशक भला कैसे कहा जा सकता है। जो वस्तु सर्वथा निर्मित होती है, वही संहार्य या समुत्पाद्य होती है जैसे कि देहादि। जो नित्य एवं ईशान (समर्थ या स्वतन्त्र) चैतन्य है उसकी उत्पत्ति और विनाश तो कभी संभव ही नहीं। अस्तु, एक ही आत्मा है जो ग्राह्य एवं ग्राहक के रूप में विविध स्वभाव वाला बनकर पुनः सभी का अनुभविता होने से सभी में एक रूप में प्रकाशित रहता है (अर्थात् एक अनेक होकर भी एक बना रहता है)। इस प्रकार अद्वय सिद्धान्त का किसी भी प्रकार विनाश नहीं होता ॥ ७ ॥

युक्ति और आगम के द्वारा आत्मा के संबन्ध में यदि प्रतिपादित किया जाता है कि विश्व का प्रपंच इसका स्वभाव है, शुद्ध संवित् इसका परमार्थ है तथा उस संवित् की सर्वत्र अनुगति होने के कारण सभी इसका आभास है, तो प्रश्न है कि लोष्ठ (ढेला, लौंदा) आदि भी उससे भिन्न नहीं हैं तो वे स्वात्मा के रूप में क्यों कर प्रतीत नहीं होते ? और यदि लोष्ठादि भी संवित्स्वरूप हैं तो लोक में जड़ और चेतन की जो भेद-व्यवस्था मानी गई है वह संगत ही नहीं रहेगी जब कि लोक-व्यवहार जड़-चेतन के भेद पर आश्रित है। इसका उत्तर है:—

राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थः प्रकाशते तद्वत्।
सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषयाश्रयणेन धीमुकुरे ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—**जिस प्रकार दिखाई न पड़नेवाला राहु चन्द्रमा के बिम्ब में स्थित होने पर प्रकाशित हो जाता है उसी प्रकार यह आत्मा सभी में रहने पर भी विषय का आश्रय लेकर बुद्धिरूपी दर्पण में (प्रकाशित हो जाता है) ॥ ८ ॥**

विवृत्यर्थ—आकाशदेश में राहु सर्वत्र घूमता रहता है पर दिख नहीं पाता पर वही जब चन्द्रग्रहण के समय चन्द्रमा की मूर्ति में बैठता है तो यह राहु है यह पहिचान लिया जाता है, ऐसा न होने पर नक्षत्रचक्र में रहता हुआ भी वह न रहता-सा लगता है। इसी प्रकार यह आत्मा सभी के अन्तरतम में स्थित होने पर भी सभी के द्वारा स्वयं के अनुभव के रूप में प्रत्यक्षतः दिखने पर भी सभी उसे सर्वत्र नहीं जान पाते। पर जब वह पुर्यष्टक[1]-प्रमाताओं के बुद्धिदर्पण अथवा प्रतिभामुकुर में ग्राह्य के

---

१. पुर्यष्टक में विद्यमान चैतन्य पुर्यष्टकप्रमाता कहलाता है। पुर्यष्टक आठ भूतादि का वाचक है जिनसे शरीर का निर्माण होता है। सनन्दन ने कहा है :—

भिन्नतया प्रकाशित रहने पर, शब्दादि विषय के माध्यम से 'सुनता हूँ' आदि के रूप में अहं इस अनुभव का विषय बनता है तो ग्राहक-स्वरूप होने के कारण लोष्ठादि में स्थित होने पर भी, स्फुट हो जाता है। उस बुद्धिदर्पण में प्रकाशित आत्मा को सभी अपने अनुभव रूप में जान जाते हैं। यह आत्मा लोष्ठादि में भी स्थित है किन्तु उस (लोष्ठादि) के अत्यन्त तमोमय होने के कारण उसमें स्थित होने पर भी अस्थित जैसा लगता है जैसे कि राहु आकाश में स्थित है फिर भी अस्थित-सा लगता है (दिखाई नहीं पड़ता)। यह महेश्वर अपनी मायाशक्ति से स्वात्मस्वरूप पदार्थों में से कुछ पुर्यष्टक आदि को, जो वस्तुतः वेद्यांश ही है, अहं के रस से अभिषिक्त करके प्रमाता बना देता है और कुछ को वेद्य बना देता है (जिसमें अहन्ता के रस को पूर्णतः अभिषिक्त नहीं करता)। इसी आधार पर जड़ और चेतन का भेद–व्यवहार बन पाता है। जिससे लोष्ठादि तो वेद्य होने के कारण जड़ और पुर्यष्टक प्रमाता वेदक (ज्ञाता) होने के कारण अजड़ या चेतन कहलाता है ॥ ८ ॥

यदि सभी प्रमाताओं की बुद्धि में आत्मा का बिना भेदभाव (विशेष) के स्फुरण होता है तो वे सभी प्रमाता आत्मविद् या आत्मज्ञ क्यों नहीं

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः ।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥

ब्रह्मपुराण में लिखा है :—

पुर्यष्टकेन लिंगेन प्राणाद्येन स युज्यते ।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु ॥

—मनुस्मृति १-५६ की कुल्लूकभट्टीय टीका में उद्धृत ।

अभिनवगुप्त के अनुसार पुर्यष्टक का अर्थ है :—

प्राणश्च पुर्यष्टकशब्दवाच्यः, प्राणादिपंचकं बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियगणो निश्चयात्मिका च यतो धीर्व्यज्यते । तन्मात्रपंचकं मनोऽहंबुद्धय इत्यन्ये 'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धि—(स्पन्दकारिका ४ । १९) इति' भूमिरापोऽनलो- (गीता ७ । ४) इति च वदन्तः ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भास्करी खण्ड २, पृष्ठ २६३-६४

इस व्याख्या के अनुसार मूलतः पुर्यष्टक शब्द प्राणका वाचक है। पाँच प्राण (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान), ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं बुद्धि एक मतके अनुसार पुर्यष्टक है। दूसरे मत के अनुसार पञ्च तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), मन, अहंकार एवं बुद्धि पुर्यष्टक कहलाते हैं। द्वितीय मत स्पन्दकारिका एवं गीता के अनुकूल है।

होते ?—क्योंकि कोई भेद तो होता नहीं है। पुनश्च कुछ तो संसारावस्था में ही आत्मज्ञान से जीवन्मुक्त होकर सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता बन जाते हैं, कुछ दूसरे आत्मज्ञान के योग्य बनकर (साधन-पथ पर) आरूढ़ हो जाना चाहते हैं, पर कुछ ऐसे होते हैं जो आत्मज्ञान से रहित हैं, अतः धर्म और अधर्म के कारण शुभ और अशुभ कर्मों के बन्धन से बँधे रह कर संसारी बने रहते हैं ? -यह भेद किस प्रकार संगत है ? इस सबका समाधान करने के लिये यह प्रतिपादित करते हैं कि परमेश्वर का शक्तिपात विशृंखल (बन्धन रहित) है :—

आदर्शे मलरहिते यद्वद् वदनं विभाति तद्वद् अयम् ।
शिव-शक्तिपातविमले धीतत्त्वे भाति भावरूपः ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—**निर्मल दर्पण में जिस प्रकार मुख चमकता है उसी प्रकार यह प्रकाशस्वरूप (महेश्वर) शिव के शक्तिपात से विमल बुद्धितत्त्व में प्रकाशित होता है । ९ ॥**

विवृत्यर्थ—जैसे मालिन्य से रहित दर्पण में सामान्य रूपादि गुणगण से युक्त मुख चमकता है। कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसे निर्मल दर्पण न स्वीकारता हो। पर मैले दर्पण में मुँह चाहे दूसरों से कितना भी अच्छा हो (दर्पण की) मलिनता के कारण टेढ़ा ही दिखता है। मलिन-दर्पण मुख के गुण (सौन्दर्यादि) को नहीं स्वीकार कर पाता, प्रत्युत जिसका मुख प्रतिबिम्बित होता है, वह व्यक्ति मुँह की मलिनता आदि से (अपने को) युक्त पाकर खुद लजाता है—'मेरा मुँह टेढ़ा है । इसी प्रकार शिव की यह जो आत्मस्वरूपिणी अनुग्रह-शक्ति है उसकी किरणों के स्फार से आणव, मायीय तथा कार्म मलों की वासना के प्रक्षीण होने से विमलीकृत प्रतिभा (बुद्धि) रूपी मुकुर में प्रकाशस्वरूप तथा सर्वज्ञत्वादि गुण-गणों से युक्त आत्मा इस रूप में प्रकाशित होता है कि वे आत्मस्वरूप के प्रकाश से संसार के बीच में रहते हुये भी मुक्त के समान तथा वैशिष्टय से संपन्न होते हैं। कुछ प्रमाता ऐसे भी होते हैं जिनके परमेश्वर की तिरोधानशक्ति के द्वारा आणव, मायीय तथा कार्म मलों से आच्छादित बुद्धितत्त्व में प्रकाशस्वरूप आत्मा भासित होने पर भी अनाभासित-सा रहता है जिससे उन्हें सांसारिक और पशु कहा जाता है। कुछ ऐसे प्रमाता होते हैं जो दोनों (परमेश्वर की अनुग्रह तथा तिरोधान) शक्तियों के योग से साधना-पथ पर आरूढ़ होने की इच्छा रखते हैं। इस प्रकार परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र, मन्द, मन्दतर आदि अनेक भेदों से विचित्र है, इसकी कल्पना की जा सकती है। इस दर्शन के अनुसार माया के क्षेत्र में आनेवाली

नियति शक्ति द्वारा नियमित अश्वमेधादि या जप-ध्यानादि या और किसी कर्म को आत्म-मुक्ति का कारण नहीं माना गया है। आत्मा माया के क्षेत्र से परे है अतः उस (माया) के अन्तर्गत आनेवाला कोई भी भेद-प्रमुख साधन आत्ममुक्ति का साधन नहीं बन सकता। जैसा कि गीता में कहा है :—

"न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ।" (—भगवद्गीता– ११-५३)

अस्तु, एकमात्र परमेश्वर का अनुग्रह ही भव्यबुद्धि साधकों के लिये मुक्तिका स्वाभाविक साधन है। जैसा कि कहा है :—

"ईश्वर के शक्तिपात में (उस ईश्वर की) स्वतन्त्रता का उद्घोष करने वाली बुद्धि को जो (स्वयं परमेश्वर के) कर्तृत्व से संस्पृष्ट होती है, और किसी की अपेक्षा नहीं होती[१]।"

---

१. कर्मादि से निरपेक्ष शिव की अनुग्रहात्मक अन्तःप्रेरणा ही शक्तिपात कहलाता है जो प्रमाता को शिव की भक्ति में एवं मुक्ति में प्रवृत्त करता है तथा उसके स्वरूप का उन्मीलन करता है। शक्तिपात के तीन मुख्य भेद हैं—तीव्र, मध्य और मन्द। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं : तीव्र के तीव्र-तीव्र, मध्य-तीव्र और मन्द-तीव्र। इसी प्रकार मध्य और मन्द के तीन-तीन भेद हैं। ये भेद आश्रय या अधिकारी के सामर्थ्य-भेद से होते हैं। निष्काम पर शक्तिपात 'पर' और सकाम पर शक्तिपात 'अपर' कहलाता है। उपर्युक्त नौ भेदों में से प्रत्येक की गति त्वरित, मध्यम और मन्द होती है, इस प्रकार शक्तिपात के २७ भेद माने जाते हैं। शक्तिपात कर्मादि से सर्वथा निरपेक्ष होता है, इस सम्बन्ध में निम्नांकित उल्लेखनीय है—

(क) स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेः पातयिता, इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः। —तन्त्रसार, पृ० ११८

(ख) इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता॥

—मालिनीविजयवार्तिक १.६९८

(ग) न च वाच्यं कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति। स एव परमेश्वरः तथा भातीति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम्।

(घ) रागक्षय, कर्मसाम्य, पुण्यप्रताप, मलपाक, मित्रयोग, भक्तिभाव, सेवा, अभ्यास, वासनोदय, संस्कारपाक, मिथ्याज्ञान-क्षय, कर्मसंन्यास, काम्य-कर्मपरित्याग, चित्तसाम्य आदि निमित्त से शक्तिपात को मानने पर इनके भी निमित्त का अन्वेषण करना होगा, इस प्रकार अनवस्था आदि

परमेश्वर की तिरोधान शक्ति ही पशुप्रमाताओं के संसरण का हेतु है, जिससे ये (प्रमाता) अपने स्वरूप का भान न रह जाने के कारण शुभाशुभ कर्मों में निरत होकर सुख-दुःख रूप भोग के भागी बनते हैं तथा बारम्बार संसरण किया करते हैं। अस्तु, प्रमाताओं का आत्मा एक होने पर भी प्रकाश तथा अप्रकाश रूपिणी अनुग्रह तथा तिरोधान की शक्तियाँ ही मोक्ष एवं बन्धन का कारण है। जैसा कि अवधूत सिद्धपाद ने कहा है:—

"अनन्तशक्ति की एक शक्ति प्रमाता को अप्रतिहत होकर संसार-पाश के जाल से बाँध डालती है तो दूसरी शक्ति सारे गुणों (रस्सियों) को ज्ञान की तलवार से काट कर पुरुष को मोक्ष की ओर अभिमुख कर देती है" ॥ ९ ॥

आगम, अनुभव तथा युक्ति के आधार पर उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत कर, जिन चार शक्त्यण्डादि का प्रतिपादन किया था उसी के अन्तर्गत आने वाले क्रमशः ३६ तत्त्वात्मक इस विश्व के परम कारण परमशिव के स्वरूप को दो कारिकाओं द्वारा बताते हैं :—

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम् ।
इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितम् अनन्तशक्तिपरिपूर्णम् ॥ १० ॥
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम् ।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत् ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—**प्रकाशस्वरूप, परिपूर्ण तथा स्वात्मविश्रान्ति के कारण महानन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से भरा हुआ तथा (अन्य) अनन्त**

दोष आ पड़ेंगे। इसलिये सर्वथा निरपेक्ष रहकर शिव अपने स्वातन्त्र्य से अनुग्रह करता है, यही मानना उचित है। उपर्युक्त विवेचन मालिनी-विजयवार्तिक १-६८८-६९२ में द्रष्टव्य है।

(ङ) शक्तिपात से ही सद्‌गुरु की प्राप्ति होती है। पारमेश्वरी शक्ति का तिरोभाव होने पर असद्‌गुरु मिलता है—

शक्तिपातात् सद्‌गुरुविषया पिपासा भवति। असद्‌गुरुविषयायां तु तिरोभाव एव। असद्‌गुरुतस्तु सद्‌गुरुगमनं शक्तिपातादेव।

—तन्त्रसार, पृ० १२२

शक्तियों से पूर्ण सभी विकल्पों[1] से विरहित, शुद्ध, शान्त, लय और उदय से विहीन जो परतत्त्वहै उसमें ३६ तत्त्वात्मक विश्व प्रकाशित होता है ॥ १०,११ ॥

विवृत्यर्थ—यह जो पूर्ण शिवतत्त्व है उसी में शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त का विश्व विश्रान्त होकर प्रकाशित होता है अर्थात् उस (शिव) से अभिन्न होकर ही विश्व प्रकाशमान है—यह युक्तिसंगत है। जिसमें तनु आदि का विस्तार हो वह तत्त्व है, अथवा प्रलय तक तनन (विस्तार) के कारण जो तत् है उसी का भाव तत्त्व है, तत्त्व की इस प्रकार निरुक्ति जाड्य की साधक है फिर चिद्रूप परमशिव को तत्त्व कैसे कहा जा सकता है ?—तत्त्व शब्द का प्रयोग उपदेश्य व्यक्ति की दृष्टि से होता है, वस्तुतः उसे (शिव को) तत्त्व नहीं कहा जा सकता। उस परमतत्त्व का क्या स्वरूप है ? अर्थात् प्रकाश उसका रूप अर्थात् स्वभाव है, अर्थात् वह (परम तत्त्व) महाप्रकाशस्वरूप है। परिपूर्ण अर्थात् निराकांक्ष है। स्फटिकमणि, दर्पण आदि पदार्थ निराकांक्ष होने पर भी जड़ होते हैं अतः परमतत्त्व को 'स्वात्मविश्रान्ति के कारण 'महानन्द' कहा गया है। स्वात्मा अर्थात् स्वभाव-अखण्ड अहन्ता-चमत्कार के रस में विश्राम करने के कारण उसे महान् आनन्द या परम निर्वृति होती है। जड़ स्फटिकादि मणि से, जो (स्वयं प्रकाश न होकर) प्रकाश्य होती है, परम आनन्द देनेवाली

---

१. विकल्प की व्युत्पत्ति है :

विविधा कल्पना, विविधत्वेन च शंकितस्य कल्पः अन्यव्यच्छेदनं विकल्पः ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भास्करी खण्ड १, पृ० २०२ ।

पर तत्त्व के विकल्पविरहित होने के सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिका उल्लेखनीय है :—

अहंप्रत्यवमर्शी यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।
नासौ विकल्पः सह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः ॥

—(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका १-६-१) भास्करी खण्ड २ पृ० ३२०

प्रकाशस्य शुद्धसंविद्रूपस्य देहादिसंस्पर्शैरनाविलीभूतस्य य आत्मा जीवितभूतः सारस्वभावो विच्छेदशून्योऽन्तरभ्युपगमकल्पोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वरूपस्वातन्त्र्यविश्रान्तिरूपः अहम् इति प्रत्यवमर्शः असौ विकल्पो न भवति ।

२. तत्त्व शब्द की व्युत्पत्ति के लिये तुलना कीजिए :

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः ॥
तत्तत्त्वम् .... तन्त्रालोक ६, ४-५

स्पन्दनसारता के कारण उस तत्त्व का भेद है। इसलिये उसे 'इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से भरा हुआ' कहा गया है, शान्त ब्रह्म को मानने वालों की तरह वह शक्तिविहीन अतः जड़ के समान नहीं है। पुनश्च शिव 'अनन्त-शक्तियों से पूर्ण' है। अनन्त अर्थात् संख्यातीत घटपटादिस्वरूपिणी नाम-रूपात्मिका शक्तियाँ, (जो इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की पल्लवभूता हैं) ब्राह्मी आदि शब्दराशि से उत्पन्न होती हैं, इन शक्तियों से वह सर्वतः परिपूर्ण है। शक्तियाँ उसी शिव से उठकर उसी में विलीन हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान् का स्वातन्त्र्य परावाक् स्वरूप है।[1] यदि परम तत्त्व वाग्रूप है तो शब्द से अनुबिद्ध होने के कारण काल्पनिक ही होगा और शुद्ध प्रकाशरूप (शिव) में कल्पना को कैसे माना जा सकता है? इसी के उत्तर में कहा है कि परमतत्त्व 'सभी विकल्पों से विरहित है'।

---

१. परम तत्त्व के परावाग्रूप होने के सम्बन्ध में निम्नलिखित अवतरण उल्लेखनीय हैं :

(क) चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका १-५-१३) भास्करी, खण्ड १, पृ० २५०।

(ख) प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलाषात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेत-निरपेक्षमेवाविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारा-दिमायीयसांकेतिकशब्दजीवितभूतनीलमिदं चैत्रोऽहमित्यादिप्रत्यवमर्शान्तर-मितिभूतत्वात्, पूर्णत्वात् परा, वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्……… ।
(वहीं, पृ० २५२-५३)

(ग) सर्वस्य हि मन्त्र एव हृदयम्, मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाक्-छक्तिमयम् ।………
(वहीं, पृ० २६३-६४)

(घ) विश्व की वाग्रूपता के सम्बन्ध में भर्तृहरि के वाक्यपदीय से निम्नांकित कारिकाएँ भी विमर्शिनी में (वहीं पृ० २६५) उद्धृत की गई हैं :

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिदं ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥

परम प्रमाता में परम अहन्ता का यह जो चमत्कार है वह वाग्रूप होने पर भी निर्विकल्प है। विकल्प का स्वरूप दूसरे से व्यावृत्ति है, जो घट तथा अघट दोनों रूपों का आक्षेप करते हुये घट को अघट से भिन्न रूप में निर्धारित करता है। किन्तु परम अहन्ता का चमत्कार जिसका सार है ऐसे प्रकाश के प्रतिपक्षी अप्रकाश की तो सत्ता ही नहीं है जिससे व्यवच्छेद (भेद) करके उस प्रकाश की विकल्परूपता बन सके। जिस वस्तु से भेद बताना है वह अप्रकाशात्मा यदि प्रकाश के स्वरूप में ही प्रकाशित होता है तब तो—

'उस (वेद्य वस्तु) के ज्ञान के स्वरूप के कारण जो तादात्म्य का बोध होता है उससे[1]........' (स्पन्दकारिका ३।१)

उपर्युक्त न्याय से जो वस्तु प्रकाशस्वभाव हो जाती है वह भला उस प्रकाश की व्यवच्छेदक कैसे बन सकती है ? जिससे कि वह (परतत्त्व में) विकल्परूपता को ला सके। और यदि कहा जाय कि व्यवच्छेद्य अर्थ प्रतिपक्ष रूप में प्रकाशित होता है तो प्रश्न होगा कि 'जो पदार्थ प्रकाश से भिन्न है वह प्रतिपक्ष रूप में है' यह जाना भी कैसे जा सकेगा ? अतः ऐसा पदार्थ (जिसे अप्रकाशमान होकर प्रतिपक्ष कहा जा सके) तो यत्किंचित् अर्थात् अवस्तु ही होगा। क्योंकि परमतत्त्व तो सभी व्यवच्छेदरूप विकल्पों से विहीन है अतः अपरिच्छिन्न स्वभाव का है। इसीलिये उसे 'शुद्ध' या विमल भी कहा जाता है क्योंकि विकल्परूपिणी अबुद्धि की स्याही उसमें नहीं है। और वह (परम तत्त्व) 'शान्त' है। ग्राह्य और ग्राहक (प्रमेय तथा प्रमाता के द्वैत) से उत्पन्न क्षोभ के न रहने से शक्ति-सामरस्य के कारण परमतत्त्व स्वरूप में स्थित रहता है, वह पाषाणखण्ड की तरह भी नहीं है। साथ ही वह 'लय और उदय से विहीन' है—

---

१. सम्पूर्ण कारिका है :—

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥

उस संवेद्य वस्तु, घट सुखादि, के ज्ञान के स्वरूप के कारण जो तादात्म्य का बोध होता है उसी से सभी भावों की उत्पत्ति है अतः जीव सर्वात्मक है। किसी वस्तु का ज्ञान ही उस वस्तु की सत्ता या प्रकाशमानता है, जो प्रकाश के स्वरूप से कथंचिदपि बाह्य या भिन्न नहीं है।

'यह आत्मा एक बारगी प्रकाशित है।'[1] (श्रुति)

इस प्रकार वह सनातन ही है। अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमान वाला काल परमतत्त्व में नहीं चल पाता। क्योंकि काल का उदय उसी से हुआ है। अस्तु, उत्पत्ति और विनाश से बाह्य परतत्त्व को मानकर ही विश्व का विश्वत्व संगत हो पाता है ॥११॥

यह संसार उपरिवर्णित परतत्त्व में प्रकाशित होता है, यह प्रतिपादन कहाँ तक संगत है जबकि परतत्त्व की दृष्टि से कुछ भी भिन्न होकर भासित नहीं हो सकता ? यदि यह जगत् भिन्न होकर भासित होता है तो अद्वयवाद खण्डित हो जाता है और यदि यह कहा जाय कि वह 'अभिन्न होकर भासित होता है' तो वह कहना मात्र होगा। इसका समाधान करने के लिये तत्त्व को भेदाभेदरूप बताते हुये (अद्वैत का) समर्थन करने के लिये कहते हैं :—

दर्पणबिम्बे यद्वन् नगरग्रामादि चित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥ १२ ॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ॥ १३ ॥

कारिकार्थ—**जिस प्रकार विचित्र नगर, ग्राम, आदि अविभक्त (अभिन्न) होने पर भी दर्पण बिम्ब में एक-दूसरे से तथा दर्पण से भी भिन्न रूप में भासित होते हैं ॥ १२ ॥**

---

१. आत्मा या ब्रह्म के सकृद्विभात होने के संबध में निम्नलिखित उपनिषद्वाक्य उल्लेखनीय एवं तुलनीय हैं—

(क) सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः। (छान्दोग्य० ८-४-२)

(ख) सकृद्विभातं सर्वज्ञम्। (गौडपादकारिका, ३-३६)

(ग) सुविभातं सकृद्विभातम्। (नृसिंहपूर्वतापनी, ९)

(घ) सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्। (मुक्तिकोपनिषद्, २-७३)

उपर्युक्त उद्धरण यथावद्रूप में (सकृद्विभातोऽयमात्मा) मुझे श्रुति (=उपनिषद्) में प्राप्त नहीं हुआ है।

उसी प्रकार यह जगत् अत्यन्त निर्मल परम भैरव की संवित् से अभिन्न (विभागशून्य) होने पर भी एक-दूसरे से तथा उस (परम तत्त्व) से भी भिन्न रूप में भासित होता है[1] ॥ १३ ॥

विवृत्यर्थ—जिस प्रकार निर्मल दर्पण के भीतर नगर, ग्राम, पुर, प्राकार, अटारी, स्थल, नद, नदी, आग, वृक्ष, पर्वत, पशु, पक्षी, स्त्री-पुरुष आदि सभी प्रतिबिम्ब होने के नाते भिन्न हैं और वे अपने स्वरूप से नाना-रूप में भासित होते हैं। —दर्पण से अविभक्त होकर, उसके साथ बिना भेद के, अपने आकार को उसमें समर्पित कर देते हैं और अभेदतया भासित होने पर भी परस्पर विभक्त रहते हैं, घट से पट और पट से घट अपने-अपने स्वरूप के कारण भिन्न रहते हैं। दर्पण के भीतर के पदार्थों को ही पृथक् समझा जाता है, दर्पण को छोड़कर (चित्र) पृथक् से कुछ भी नहीं है, दर्पण में समरसता के साथ स्थित होकर भी जगत् सर्वथा भिन्न मालूम पड़ता है। घटादि के प्रतिबिम्ब से दर्पण भी अन्तर्हित नहीं होता क्योंकि दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ दर्पण से भी भिन्न बने रहते हैं। स्वयं तो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न रूप में प्रकाशित होते ही हैं साथ ही दर्पण भी अतिरिक्त (भिन्न) बने रहते हैं। क्योंकि दर्पण पदार्थ—प्रतिबिम्बमय होने पर भी उनसे परे बना रहता है, तन्मय नही बन जाता जिससे कि उसे दर्पण नहीं है' यह नहीं कहा जाता। प्रत्येक व्यक्ति को 'यह दर्पण है' यह निर्बाध ज्ञान दर्पण द्वारा प्रतिबिम्ब ग्रहण करने पर भी बना रहता है। घटादि दर्पण को विशेषित भी नहीं करते जिससे कि यह कहा जा सके कि 'यह घट-दर्पण है' और 'यह पट-दर्पण है' जिससे कि दर्पण के

---

१. तुलना कीजिए :—

(क) निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥

—तन्त्रालोक—२-४

(ख) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । —प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू. २

इसका वृत्तिभाग भी उल्लेखनीय है :—

स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया, तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया, एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत । स्वभित्तौ न तु अन्यत्र क्वापि प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति । उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् । इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानमुक्तम् ।

अपने (निर्विशिष्ट) स्वरूप की हानि हो। देश और काल द्वारा उत्पादित भेद भी उसके स्वरूप को विनष्ट नहीं कर पाते। इस प्रकार विभिन्न प्रतिबिम्बों को ग्रहण करने की क्षमता रखने वाला होकर भी दर्पण स्व-स्वरूप में दर्पण ही बना रहता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद में किसी प्रकार की हानि नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि दर्पण में जो प्रतिबिम्ब देखते हैं वह भ्रान्ति है। यह कहा जाता है कि 'दर्पण में हाथी है'। जब कि दर्पण में तो वह कुछ भी नहीं होता है क्योंकि हाथी के रूप में अर्थ-क्रियाकारित्व नहीं है अतः 'दर्पण में हाथी है' यह निश्चय भ्रान्ति से ही होता है। भ्रान्ति का स्वरूप तो बाद में बतायेंगे पर प्रतिबिम्बवाद के इतने निरूपण से दृष्टान्त की सिद्धि हो जाती है। दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरादि के दृष्टान्त की तरह 'अत्यन्त निर्मल परम भैरव की संवित् से' अर्थात् अत्यन्तरूप में विगलित मत वाले पूर्ण आनन्द से उद्रिक्त प्रकाश से यह विश्व दर्पण-प्रतिबिम्ब के समान (इस प्रकाश से) अभिन्न है तथापि एक-दूसरे से ग्राह्य और ग्राहक की अपेक्षा से विभक्त तथा नानारूपों में प्रति-भात होता है, और उस बोध से भी अलग लगता है, क्योंकि बोध जगत् के रूप में प्रकाशित होने पर भी उनसे उत्तीर्ण (परे) रहता है जैसे कि प्रतिबिम्बों से दर्पण। इसी प्रकार विश्व के भाव-प्रतिबिम्बों को धारण करने पर भी प्रकाश (तत्त्व) विश्व के भावों से उत्तीर्ण परे) रहता है, सभी का अनुभविता-होकर स्वस्वरूपतया प्रकाशित रहता है। देश, काल और आकार का भेद (विश्व के) पदार्थों से सम्बद्ध होने पर भी दर्पण के समान एक होकर ही प्रकाशित होता है, अपने स्वरूप को भिन्न नहीं बनाता। (अर्थात् दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थों का देश और काल का भेद दर्पण से भिन्न नहीं है, अपितु उससे एकात्मक है।) अतः बोध (संवित्) एक और अनेक स्वभाव का होने पर भी एक ही है, उसी तरह जैसे कि बोध में चित्रज्ञान (अनेक होने पर भी एक होकर) भासता है। किन्तु दर्पण के प्रकाश से चमत्कार समन्वित चैतन्य के प्रकाश का इतना भेद है कि दर्पण में, जिसे केवल स्वच्छ भर होना चाहिये, दर्पण से भिन्न बाह्य नगरादि ही प्रतिबिम्ब के लिये स्वीकृत है, स्वनिर्मित पदार्थ नहीं (अर्थात् दर्पण में जो कुछ प्रतिबिम्बित होता है वह दर्पण द्वारा निर्मित नहीं होता और दर्पण से भिन्न और बाह्य होता है), इसलिये दर्पण में (प्रतिबिम्बित हाथी को देखकर) 'यह हाथी है' यह निश्चय भले भ्रान्त हो, पर प्रकाश का सार तो स्वयं का चमत्कार है, वह स्वेच्छा से अपनी

ही भित्ति में अभेदरूप में परामर्श करते हुये ऐसे विश्व को प्रकाशित करता है जिसका स्वसंविद् ही उपादान है। विश्व का प्रकाशन ही भगवान् का निर्मातृत्व है। इस प्रकार परामर्श (या विमर्श) ही प्रमुख तत्त्व है जो प्रकाश को दर्पण के जड़ प्रकाश से विलक्षण बनाता है। यही ग्रन्थकार ने विवृत्तिविमर्शिनी में कहा है :—

"जिस प्रकार विचित्र सृष्टि दर्पण के भीतर, उसी प्रकार सारा विश्व आत्मतत्व के भीतर प्रकाशित होता है। बोध (प्रकाश) तो अपने विमर्शसार के कारण विश्व का परामर्श कर लेता है किन्तु दर्पण इस प्रकार (का परामर्श) नहीं कर पाता।"

इस प्रकार परमेश्वर की दृष्टि से स्वांग से निर्मित भावराशि के किसी भेद की आशंका नहीं हो सकती, माया-प्रमाता की दृष्टि से भेद की जो प्रतीति होती है वह पूर्णत्व अर्थात अद्वयात्मा स्वभाव की ख्याति (ज्ञान) न होने वाली भ्रान्ति है क्योंकि पूर्ण का भान नहीं होता अपितु द्वैतरूप भासित होता है, भेद ही ज्ञात होता है। अस्तु, उपर्युक्त प्रतिबिम्बवाद तो निष्कलुष है ॥ १२-१३ ॥

इस प्रकार परम तत्त्व के स्वरूप का निरूपण करने के अनन्तर ३६ तत्त्वात्मक विश्व की स्थिति प्रकाश से अभिन्न बताकर इस जगत् के प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप उत्पत्ति के क्रम से प्रतिपादित करते हैं :—

शिव-शक्ति-सदाशिवतामीश्वर-विद्यामयीं च तत्त्वदशाम् ।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति ॥ १४ ॥

कारिकार्थ—**शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या रूप तत्त्वदशा को पाँच शक्तियों को विभक्त करके प्रकाशित करता है**[1] ॥ १४ ॥

विवृत्यर्थ—परम तत्त्व का निरूपण करते हुये जिस परम शिव के स्वरूप का अभी प्रतिपादन किया है उसकी स्वस्वरूप चिद्, आनन्द, इच्छा ज्ञान, तथा क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ हैं, जो अनन्त शक्तिसमुदाय की कारण हैं, उन्हीं पाँच शक्तियों को भिन्नतया अर्थात् अतद्व्यावृत्ति (अपोह)

---

१. अर्थात् शिव की पाँच शक्तियों में उपर्युक्त प्रथम पाँच तत्त्व शिव, शक्ति आदि उन्मीलित होते हैं।

चिदानन्देषणाज्ञानक्रियापंचमहातनुः ।
विवर्तते महेशानस्तत्तद्वर्गेषु पंचधा ॥

—तन्त्रालोक (विवेक) ६-४९

से पाँच संख्यावाले तत्त्वों के रूप में प्रकाशित करता है[1]—अर्थात् स्वलक्षणतया (प्रत्येक का प्रातिस्विक स्वरूप निर्माण कर) प्रकटित करता है वे पाँच तत्त्व हैं—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या। इनमें से प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप बताया जा रहा है। सभी प्रमाताओं के अन्तर में पूर्ण अहन्ताचमत्कार-स्वरूप, सभी तत्त्वों से परे महाप्रकाशरूप यह जो चैतन्य है, वही शिवतत्त्व है[2]। इसे तत्त्व उपदेश्य व्यक्ति की दृष्टि से कहा जाता है[3]।

---

१. तुलना कीजिए :—

शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पंचशक्तिसुनिर्भरः।
स्वातन्त्र्याभासितभिदा पंचधा प्रविभज्यते॥
—तन्त्रालोक, ६-४८

२. तुलनीय :—

(क) आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृ‌त्तचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥

(ख) सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञत्वकर्तृत्वसम्मता।
निजाभासचमत्कारमयी शिवदशा स्मृता॥

(ग) एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता।
परापरादिभेदोऽत्र श्रद्धानैरुदाहृतः॥ (शिवदृष्टि)

प्रत्यभिज्ञाहृदय में शिव को ही स्वतन्त्रा चिति कहा गया है। **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः**।—प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र १। शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव, तथा अनुग्रह नामक पंचकृत्य निरन्तर करता रहता है :—

नमः शिवाय सततं पंचकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने॥
—प्रत्यभिज्ञाहृदय का मंगलपद्य

शिवतत्त्व के सम्बन्ध में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भी उल्लेखनीय है। यहाँ शिवतत्त्व को ज्ञान तथा क्रिया का अवियोग और क्रिया के द्वारा समग्र विश्व के प्रतिविम्ब को धारण करने वाला कहा गया है—

तदेतदवियुक्तज्ञानक्रियारूपं क्रियाद्वारेण सकलतत्त्वराशिगतसृष्टिसंहारशत-प्रतिबिम्बसहिष्णु यत्तदुपदेशभावनादिषु तथाभासमानमनाभासमपि वस्तुतः शिवतत्त्वमित्युक्तं भवति। —भास्करी, भा० २, पृ० २१६

३. तुलना कीजिए :—

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यायस्तदभिन्नः परः शिवः।
उपदेश्यतया सोऽपि स्यादवच्छेदभागतः
अष्टात्रिंशं परं धाम यत्रेदं विश्वकं स्फुरेत्॥

मैं विश्व बनूँ यह परामर्श करनेवाले चिद्रूप महेश्वर की आनन्द-रूपिणी विश्व-सृष्टि-स्वभावमयी संवित् ही कुछ उद्रिक्त होकर सभी पदार्थों की जो बीजभूमि बनती है, वही (शिव की) शक्ति अवस्था है इसे ही विश्व की सृष्टि और संहार से एकात्मता के कारण एक होने पर भी कृश और पूर्ण दोनों रूपों में सभी रहस्य प्रस्थानों में कहा जाता है[1]। विश्व की सृष्टि की बीजभूमि, महाशून्या तथा अतिशून्या नामक इस (शक्ति) अवस्था में महेश्वर को अहम् और इदं के अभेद से जो अहन्ता का विमर्श होता है उसमें ज्ञान की प्रधानता से क्रिया-भाग अहन्ता में विश्रान्त हो जाता है, तो वही सदाशिव की अवस्था कहलाती है[2]। इस (तत्त्वावस्था) में मन्त्र-

---

१. शिव और शक्ति का चन्द्र-चन्द्रिका तथा वह्नि और दाहिका शक्ति की भाँति नित्य तादात्म्य माना गया है :—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वांछति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं बह्निदाहिकयोरिव॥

—बोधपंचदशिका, श्लोक ३

आचार्य शंकर ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

—आनन्दलहरी, १

विश्व की सिसृक्षा ही शिव का शक्तिभाव है :

स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः॥

—महार्थमंजरी, पृ० ४० (त्रिवेन्द्रम्)

तथा-यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।—वहीं

२. सदाशिव तत्त्व के सम्बन्ध में निम्नांकित उल्लेखनीय है :

तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्यास्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्।

षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह का राजानक आनन्दकृत विवरण, पृ० ३

तथा च—सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो **मन्त्रमहेश्वराख्यः** प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय सू० ३ का वृत्तिभाग।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में सदाशिव को सादाख्य तत्त्व कहा गया है जिसमें आन्तर ज्ञानदशा का प्राधान्य होता है—

महेश्वर प्रमाता होते हैं[1]। 'अहम्' और 'इदम्' के अभेद से अहन्ता और इदन्ता की तराजू पर बराबर रखे हुये के समान, जो स्वात्मविमर्श है वही उस (शिव) की ईश्वरावस्था है[2]। मन्त्रेश्वर इस अवस्था में प्रमाता है। इस अवस्था में इदन्ता की प्रधानता से अहन्ता गौण होकर 'अहम्' 'अहम्' और 'इदम्' 'इदम्' के रूप में चमत्कार (विमर्श) होता है (जैसे

यद्यप्येकमेव शिवतत्त्वं तथा तदीयमेव स्वातन्त्र्यं स्वात्मनि स्वरूपभेदं तावत् प्रतिबिम्बकल्पतया दर्शयति। ....ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यम् 'सदाख्यां भवम्'। यतः प्रभृति सदिति प्रख्या।

—द्र० भास्करी, भाग २, पृ० २१७-१८।

सत् रूप में आख्या (प्रसिद्धि) इसी तत्त्व से प्रारम्भ होती है, इसके पूर्व शक्ति आदि की अवस्था में असत्प्रतियोगी सत्ता को नहीं माना जा सकता। इस लिए शक्तितत्त्व को महाशून्य भी कहा जाता है। उपर्युक्त संदर्भ में भास्कर-कण्ठ का व्याख्यान उल्लेखनीय है :—सदिति प्रख्या—सदिति प्रसिद्धिः। अतः पूर्वं हि शक्त्यादौ असदित्यनेन प्रतियोगिना परिमितीकृता सत्तापि न युक्तेति भावः।

— भास्करी, भाग २, पृ०—२१८

१. पाँच तत्त्वों के प्रमाता क्रमशः शांभव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र कहलाते हैं :—

शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंच गणाः क्रमात्॥

—तन्त्रालोक ५-३-५४ (?)

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में ईश्वरतत्त्व को 'बहिरुन्मेष' कहा गया है क्योंकि विश्व का यहाँ उदय, स्फुटत्व या बाह्यत्व होता है।

यस्योन्मेषादुदयो जगतः, इत्यत्र हि ईश्वरतत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्, विश्वस्य हि स्फुटत्वबाह्यत्वमुन्मेषणम्।—

—द्रष्टव्य, भास्करी, भाग २, पृ० २२१।

राजानक आनन्द ने अपने विवरण में कहा है कि ईश्वर तत्त्व में वेद्य की स्फुट प्रतीति होती है अतः ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है :—

अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।

ईश्वर तत्त्व में जिस विश्व की प्रतीति होती है उसमें स्फुट इदन्ता और अहन्ता का सामानाधिकरण्य होता है।

ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो महेश्वरवर्गः।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय (जयदेव सिंह) पृ० ४१

कि सद्योजात शिशु सिर हिलाकर या अंगुली चलाकर बताता है) तो वही बोध प्रधानता के कारण शुद्ध विद्यातत्त्व कहलाता है[1]। विद्येश्वरों के साथ मन्त्र (प्रमाताओं) के सात वर्ग वाचक हैं जो अनुग्रह स्वभाव के कारण पशुओं का उद्धार करने के लिये वाच्यस्थानीय मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्रेश्वरों के लिये अवस्थित रहते हैं। विद्यातत्त्व में विद्येश्वर प्रमाताओं की बोध-

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में सद्विद्या (शुद्ध विद्या) के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें अहम् तथा इदम् का अधिकरण एक ही होता है जब कि माया-प्रमाता में अहन्ता की प्रतीति का सम्बन्ध प्रमाता से और इदन्ता की प्रतीति का सम्बन्ध ग्राह्य या प्रमेय से होता है। अर्थात् शुद्ध विद्या तत्त्व की अवस्था में ग्राह्य-ग्राहकभेद स्फुट नहीं होता, अतः कारिका में इस तत्त्व को अहन्ता तथा इदन्ता का समानाधिकरण कहा गया है :—सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याह-मिदंधियोः।

ये एते 'अहम्' इति 'इदम्' इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् 'अहम्' इति ग्राहके 'इदम्' इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनैकस्मिन्नधिकरणे यत्संगमनं सम्बन्धरूपं प्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या, अशुद्धविद्यातो मायाप्र-मातृगताया अन्यैव। —भास्करी, भाग २, पृ० २२३-२४

सद्विद्या के शुद्ध होने के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बाह्य अर्थों को अहन्ता में निमज्जित करना ही शुद्धि है। 'शुद्धिर्बहिष्कृतार्थानां स्वाहन्तायां निमज्जनम्।' तथा :—

इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वात् यथावस्त्ववलोकनात्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-१-४

अवलोकनं प्रथनं वेदनं विद्या, यथावस्तुत्वं वस्त्वनुसारित्वञ्च तस्याः शुद्धिरविपरीतता। वेद्यदशां चोपगतवतामङ्गीकृतवताम् अत एवेदमित्येवं-भूतेनोचितेन परामर्शेनोपपन्नानां परामृश्यमानानां भावानां 'बोध' एवं प्रकाशात्मा साररूपं वस्तु, प्रकाशश्चानन्योन्मुखविमर्शात्माहमिति। तदेषां यदेव पारमार्थिकं रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमिदमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, (भास्करी, भाग २,) पृ० २२६

शुद्धविद्या को भावों का अनात्मतया भासन करने के कारण 'ऊपर' तथा अहन्ता मे आच्छादित होने के कारण 'पर' होने से परापरदशा कहा गया है:—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताऽहन्तयाच्छादात् परापरदशा हि सा॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी, भाग २, पृ० २२७)

रूपता में भेद नहीं होता है तथापि जो कुछ भी भेद की प्रतीति होती है वह भाषाशक्ति के कारण होती है। इसलिये आगमों में कहा जाता है :—

"माया के ऊपर महामाया (होती है) ... ..."

इसी कारण यहाँ के मन्त्र (प्रमाता) महामाया से संपर्क के कारण 'अणु' कहलाते हैं। माया तत्त्व के ऊपर तथा शुद्धविद्या (तत्त्व) के नीचे जो विज्ञानाकल नामक प्रमाता होते हैं वे आणवमल के पात्र हैं। इस प्रकार एक ही यह शिवस्वरूप तुर्यातीत होने पर भी तुर्य रूप में तत्त्व-पंचक के रूप में माना जाता है[1]। अस्तु, एक ही यह स्वतन्त्र कर्ता प्रकाशमान है, जिसका 'अहमिदम्' के रूप में सदाशिव और ईश्वर की भूमियों में जो प्रकाश है, वही शुद्ध वेदन रूप (विद्यातत्त्व में) करण बनता है तथा आगे बताये जाने वाली माया से लेकर पृथ्वी तक की तत्त्वसृष्टि कार्य है। इस प्रकार कर्ता (सदाशिव तथा ईश्वर), करण (सद्विद्या) तथा क्रिया (माया से पृथ्वी तक) के रूप में एक ही परम प्रमाता स्वात्म-महेश्वर के नाम से प्रकाशमान है[2] ॥ १४ ॥

---

१. तुलनीय :—

चित्रशक्तिसहस्राढ्यं शिवतत्त्वं समातिगम्।
विभक्तं पंचधा चैकं शक्त्युल्लासविभेदतः ॥ —अध्वसिद्धि

तथा :—

चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः।
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ॥

—तन्त्रालोक, ६-४९

२. इन पाँचों तत्त्वों का संग्रहात्मक विवेचन भास्करकण्ठ ने अपनी टीका भास्करी में किया है जो उद्धरणयोग्य है :—

नित्याव्यभिचरद्रूपयोः प्रकाशशुद्धाहंविमर्शयोः शिवशक्तितत्त्वव्यवहारः, वेद्यत्वाभावात् प्रमातृत्वमप्यत्र शिवस्यैव भावानां च अहन्तयैव ग्रहणम्। अपरिमिताहन्तेदन्ताविषये सदाशिवतत्त्वव्यवहारः। अत्र तु वेद्यतोद्भवेन मन्त्रमहेश्वररूपं चेतनवर्गः प्रमाता, भावानां तु स्तोकमिदन्तास्पर्शरूषितया ग्रहणम्, यत्सर्वमिदं तदहमेव न त्विदमाख्यं किमपि वस्तु भवति, एकस्य चिन्मात्रस्येव सत्त्वात् इति। तयोरेवाहन्तेदन्तयोः समत्वे ईश्वरतत्त्वव्यवहारः। अत्र मन्त्रेश्वरः प्रमाता, भावानां तु समघृततुलान्यायेन इदन्ताऽहन्ताभ्यां ग्रहणम्। चिच्चेत्यभागयोः इदमिति विषये तु शुद्धविद्यातत्त्वव्यवहारः, भावानां तु स्तोकम् अहन्तास्पृष्टया इदन्तया ग्रहणम्। परन्तु शुद्धाहंस्फूर्तिरस्फुटा वर्तते एव, अन्यथा मायातत्त्वा-

माया तत्त्व का स्वरूप बताते हैं :—

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ १५ ॥

कारिकार्थ—**महेश्वर का जो अशक्य निष्पादनरूप स्वातन्त्र्य है, वही देवी मायाशक्ति है, यह शिव की आत्मा का आवरण है ।१५॥**

विवृत्यर्थ—उस शक्तिमान् परमेश्वर का दूसरे की अपेक्षा न रखनेवाला (परम) जो विश्वनिर्माण का कर्तृत्व (स्वातन्त्र्य) है वही माया नामक शक्ति है । क्योंकि यह पृथ्वी तक के प्रमाता तथा प्रमेय के प्रपंच का मित परिच्छिन्न करती है अथवा वह विश्व की मोहक होने के कारण माया है ।[1] क्रीड़ानिरत देव से यह सम्बन्धित है अतः देवी कहलाती है, ब्रह्मवादियों की भाँति माया कोई पृथक् तत्त्व नहीं है । परमेश्वर का यह स्वातन्त्र्य ऐसे प्रमातृ-प्रमेयरूप कार्य का निष्पादक है जिसकी रचना अत्यन्त कठिन (दुर्घट) है । यही माया स्वेच्छा से पशुभाव ग्रहण करने वाले शिव का स्वरूप-गोपन करने वाले आणवादि तीन मल (के रूप में) है[2] ।१५॥

पातात्, तत्र हि प्रलयाकलाख्यः शून्यरूपः प्रमाता, न चात्र अहन्तेदन्तयोः परस्परं प्रति स्फुटं प्रतियोगित्वं शंक्यम् येन विकल्परूपतापातः स्यादपि तूभयमप्यत्र पर्यायेण अपरिमितमेव, मायापदे तु तयोः परस्परं प्रति स्फुटं प्रतियोगित्वमेव । यस्तु परशिवः सर्वत्र सर्वमय एवेति न तस्येह प्रस्तावः ।

—भास्करी, भाग २, पृ० २२६

१. मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति वा मोहो माया शक्तिः

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १-३५

२. माया तत्त्व के संबन्ध में उल्लेखनीय अवतरण :—

माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥

—तन्त्रालोक ६, ११६

माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु

—षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक ५ पृ० ४

एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि ।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहिनीशक्तिः ॥

—महार्थमञ्जरी, श्लोक १७, पृ० ४६

प्रकृति से उत्पन्न सुखादिरूप जो भिन्न भोग्य है, उसका भोक्ता पुरुष तत्त्व है। उसका स्वरूप बताते हैं :—

मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।
काल-कला-नियतिवशाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः ॥ १६ ॥

कारिकार्थ—**माया को स्वीकार कर लेने के कारण बोध मलिन होकर पुरुष बन जाता है, जो पशु है तथा काल, कला, नियति, राग और अविद्या से अच्छी तरह बँधा हुआ है ॥ १६ ॥**

विवृत्यर्थ—माया को स्वीकार कर लेने की परतन्त्रता के कारण सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बोध (प्रकाशात्मविमर्श) सर्वज्ञत्व आदि गुणों का निरास करने वाले अख्यातिरूप आणव मल से युक्त हो जाता है जिससे कि पूर्णस्वरूप चिदाकाश घटाकाश की भाँति परिमित हो जाता है। यही (परिमितभाव) पुरुषतत्त्व है। यह (पुरुष) पशु कहलाता है। क्योंकि माया के द्वारा पालन करने योग्य है तथा आणव, मायीय तथा कार्ममल-

---

इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्योत्कर्षकाष्ठा यत् स्वात्मावभासैकात्मजीवितजाति-भेदप्रभेदवैचित्र्योत्पादनप्रावीण्यम्—येन अतिदुर्घटकारी परमेश्वर इत्याद्युद्घोष्यते·········। मायाव्यतिरेकेण भेदप्रथा—परमार्थस्य प्रपञ्चस्य अभावः, तदभावे च तत्प्रतियोगिकस्य परमेश्वरस्य ऐश्वर्यानुपपत्तिरिति न किंचिदपि ऊह्येत, तदिदं माया नाम तस्य उत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम् ।

—वहीं, महार्थमञ्जरीटीका, पृ० ४७

माया प्रथम भेदप्रथा है जो समग्र भावी भेदों को गर्भित करने के कारण परा निशा है।

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा ॥ ६।११६

वह भेद रूपिणी है, जड़ है, क्योंकि इसके सभी कार्य जड़ हैं। विश्व का बीज होने के कारण व्यापिका है, सूक्ष्म है क्योंकि कार्य विश्व की कल्पना करती है। वह शिव-शक्ति से अविनाभाव के कारण नित्य है, एक है तथा सृष्टि का मूल कारण है :—

सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः ।
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावात् नित्यैका मूलकारणम् ॥

—तन्त्रालोक, ६-११७

स्वरूप बन्धन में बाँधने लायक (पाश्य) हो जाता है (साथ ही) काल, कला, आदि (पाँच तत्त्वों) में ओत-प्रोत होने के कारण यह पुरुष सम्यक् बद्ध हो जाता है । इस प्रकार पुरुषतत्त्व ६ तत्त्वों (माया तथा पाँच काल-कलादि) से आवेष्टित है[१] ॥ १६ ॥

पुरुष तत्त्व को आवेष्टित करने के क्रमानुसार[२] कालादि तत्त्वों का स्वरूप बताते हैं :—

---

१. पुरुषतत्त्व के सम्बन्ध में उल्लेखनीय अवतरण :—

कलाविद्याकालरागनियतिभिरोतप्रोतो माययापहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्वराशिमध्यगतभागमात्र एवंभूतोऽयं मितः प्रमाता भाति इदानीमिदं किंचिज्जानानः, इदं कुर्वाणोऽत्र रक्तः, अयमेव च यः सोऽहम् ।

—विमर्शिनी (भास्करी, भाग २) पृ० २३८

इदमेव च पंचविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम् ।　—तन्त्रालोकटीका, भाग ६, पृ० १६५

पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितात्मतामवभासयति तदा सकल एवायं भेदव्यवहारः समुल्लसेत् ।　—वहीं, पृ० १५६

मायाग्रहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते ।

—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक २२

महार्थमंजरी टीका में कहा गया है कि विश्वनाटक के नट शंभु की, विश्वनाट्य के लिये उन्मुख होने पर, भूमिका का ग्रहण ही, पुरुषावस्था या पुरुषतत्त्व है :—

तस्य च विश्वनाट्याभिनयोन्मुखस्य भूमिकावलम्बनलक्षणेनार्थेन या अवस्था सा पुरुषो भवति ।　—महार्थमंजरी-टीका, पृ० ५१

२. परमार्थसार (श्लो० १६ तथा १७) में इन पाँच कंचुकों का क्रम है :—काल, कला, नियति, राग, विद्या । अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका (श्लो० १६) का क्रम है :— कला, विद्या, राग, काल, तथा नियति । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में क्रम है :—काल, विद्या, कला, राग तथा नियति ।

— भास्करी भाग २, पृ० २३७-३८ ।

तन्त्रालोक में कहा गया है कि विद्या, राग, नियति तथा काल कला के कार्य हैं । इस प्रकार कला प्रथम तत्त्व होगा :—

विद्या, रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् । कलाकार्यम्—

—तन्त्रालोक ६.१६१

अधुनैव, किंचिदेवेदमेव, सर्वात्मनैव, जानामि।
मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ॥१७॥

कारिकार्थ–'अभी ही', 'कुछ ही', 'यही', 'पूरी तरह से ही', **जानता हूँ' माया के साथ ये ६ अणु के अंतरंग कंचुक कहे गये है ॥ १७ ॥**

विवृत्यर्थ—जिस प्रकार स्वतंत्र संवित् अपनी माया से अणुभाव को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार उसकी ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति संकुचित होकर पशुरूप इस पुरुष की विद्या तथा कला कहलाती है। जैसे राजा के द्वारा सर्वस्व अपहरण कर लेने के बाद जीने के लिये कृपा करके कुछ धन दे दिया जाता है उसी प्रकार अणुभाव प्राप्त संवित् (बोध) का, जिसका सर्वज्ञत्व आदि अपहृत हो जाता है, कुछ कर्तृत्वस्वरूप ज्ञातृत्व प्रकाशित कर दिया जाता है। भाव की प्रधानता के कारण काल आदि का जानने के साथ सम्बन्ध बताया गया है अर्थात् श्लोक में आये 'जानामि' के साथ 'अभी ही' इत्यादि का अन्वय है जो ज्ञान के प्राधान्य को सूचित करता है)[1]। पूर्वोक्त माया से युक्त ये ६ कंचुक आणवमल

पाँचों कंचुकों का संक्षिप्त प्रतिपादन इस प्रकार है:—

······कालःक्रममासूत्रयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति, योऽहं कृशोऽभवं स स्थूलो वर्ते, भविष्यामि स्थूलतरः इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव परामृशंस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति। तस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नीलसुखादि विविनक्ति। कला किंचित् कर्तृत्वोपोद्बलनमयी कार्यमुद्भावयति, किंचित् जानामि, किंचित् करोमीति। अत्र चांशे तुल्येऽपि किंचित्त्वे कस्मादिदमेव किंचित् इत्यत्रार्थेऽभिष्वंगरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागो व्याप्रियते। ·········अत्रैव कस्मादभिष्वंगः इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यत इति।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी भाग २) पृष्ठ २३७-३८

१. इन पाँचों तत्त्वों के क्रमभेद का प्रमुख कारण पुरुषभेद के अनुसार प्रतीतिभेद है। जैसे कि कोई रागपूर्वक जानता है तो कोई जानकर राग करता है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने क्रमभेद का प्रतिपादन किया है।

देखियेस्वच्छन्दतन्त्र टीका—भाग ६, पृ० ४६-४७

मेरी दृष्टि में पहले कला तथा विद्या का होना आवश्यक है। क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व प्रधान शक्तियाँ है, उन्हीं का संकोच अन्य कंचुक हैं। इस सम्बन्ध में षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह श्लोक ७ भी उल्लेखनीय है:—

से जिसका सर्वज्ञत्व समाप्त कर दिया गया है ऐसे अणु पुरुष के स्वरूप का आच्छादन करने वाले हैं, तथा सोने में खोट के समान अन्तरग अर्थात् निजी हैं।

इसका स्वरूप इस प्रकार है। 'अभी ही जानता हूँ' इस प्रकार वह अणु (पुरुष) वर्तमान के रूप में, या पहले मैंने जाना था, यह जान रहा हूँ, यह जानूँगा' इस रूप में तथा इसी प्रकार यह मैंने किया था, कर रहा हूँ, करूँगा' इस रूप में ज्ञान तथा क्रिया के स्वरूप से पदार्थों को (भूत, भविष्यत् वर्तमान) से कलित-अवच्छिन्न–करता है, यही इसका काल (रूप कंचुक) है[1]। और 'कुछ ही' —परिमित ही को कर पाता है, सब कुछ नहीं कर पाता, घट तो बना सकता है पर पटादि नहीं, यही इस अणु (पुरुष का कला तत्त्व है।[2] यही इस प्रकार से नियत कारण से नियत कार्य की ही जो कामना है जैसे कि वह्नि से ही धूम की और अश्वमेधादि यज्ञ से ही स्वर्गादि फल की न कि सभी से, इस प्रकार जिस नियत से अपने संकल्प के अनुसार किये गये कर्मसमूह से उदित पुण्य-पाप से आत्मा नियमित होती है वही इस (पुरुष) का नियति तत्त्व

सम्पूर्णकर्तृताया बह्वयः सन्ति शक्तयस्तस्य।
संकोचात् संकुचिता कलादिरूपेण रुढयन्त्येव॥

कला सर्वकर्तृत्व को, विद्या सर्वज्ञत्व को, राग पूर्णत्व को, काल नित्यत्व को और नियति स्वातन्त्र्य तथा व्यापकत्व को परिच्छिन्न कर देते हैं।

१. काल पूर्वपर का क्रम है, वह ज्ञान, क्रिया तथा प्रमेय तीनों में ही क्रम की उद्भावना करता है। काल को परिच्छेदकारी भी क्रम के उद्भावन के कारण ही कहा जाता है।

२. कला तत्त्व के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है :—

तत्सर्वकर्तृता सा संकुचितकतिपयार्थमात्रपरा।
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम॥

—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, श्लोक ८।

कला हि किंचित्कर्तृत्वं सूते स्वालिंगनादणोः।
तस्याश्चाप्यणुनान्योन्यं ह्यंजनं सा प्रसूयते॥

—तन्त्रालोक, ६ पृ० १३६

सेयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यतः॥

—वही, पृ० १४१

है[1]। 'पूरी तौरसे' इस रूप में यह जो अपूर्ण मानने का भाव है—यह सब मेरे उपयोग का है, मैं (यह सब) होऊँ, (मैं यह सब) कभी नहीं था ऐसा नहीं—वही पशु (पुरुष) का राग तत्त्व है[2]। जो राग बुद्धि का धर्म है वह किसी एक पर, जैसे कि कान्ता रूप विषय पर, दूसरों की व्यावृत्ति करके 'यहां मेरा राग है' इस तरह केवल अभिष्वंग है, वह सब कुछ की कामना करने वाले रागतत्त्व के समान नहीं है[3]। और 'जानता हूं' यह सामने विद्यमान किसी घटादिक को, नकि दूरस्थ और विप्रकृष्ट वस्तु को, विषय बनाता है, यही विद्यातत्त्व है। शुद्ध विद्या से भेद करने के लिये कारिका में अविद्या (पद) का उपादान किया गया है, न कि वेदन का अभाव

---

१. नियति के संबध में उल्लेखनीय है :—

नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः ।

पराप्रवेशिका, पृ० ९

नियतिर्नियोजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, १।२९

नियतिर्नियोजनां धत्त विशिष्टे कार्यमण्डले ।

तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६०

नियच्छति भोगेषु अणूनिति नियतिः ।

तन्त्रालोकटीका, भाग ६, पृ० ४६

यस्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्वंशं नियतममुं नियमयन्त्यमून्नियतिः ॥

षड्त्रिंशतत्त्वसन्दोह, पृ० १२

२. राग तत्त्व के संबन्ध में उल्लेखनीय अवतरण :—

रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, १-२८

किंचित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत् ।
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरंजकम् ॥

तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १५७

३. न च तद्बुद्धिगतमवैराग्यमेव, तद्धि स्थूलं, वृद्धस्य प्रमदायां न भवेदपि, रागस्तु भवत्येव । बुद्धिधर्माष्टकेऽपि च दृष्टोऽभिष्वंगः ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी, भाग २) पृ० २३८

रहने के कारण (अर्थात् ज्ञान तो होता है[1])।[1] माया के साथ भेदख्याति कराने वाले ये ६ पशु (पुरुष या अणु) के कंचुक (आवरण, बन्धन) है[2] ।१७॥

ये ६ कंचुक इस अणु (पुरुष) के अन्तरंग किस प्रकार हैं, यह बताते हैं :--

कम्बुकमिव तण्डुलकणविनिविष्टं भिन्नमप्यभिदा ।
भजते तत्तु विशुद्धिं शिवमार्गौन्मुख्ययोगेन ॥ १८ ॥

कारिकार्थ--**तण्डुलकण में स्थित तुष भिन्न होकर भी अभिन्न रहता है, पर वह शिव-मार्ग पर औन्मुख्ययोग से विशुद्ध हो जाता है ॥१८॥**

विवृत्यर्थ—वस्तुतः तुष (भुसी) भिन्न होने पर अभिन्न होकर चावल के दाने में स्थित रहता है, अभेद से चावल के भीतर तुष ओत प्रोत दिखाई देता है, कुशल व्यक्तियों द्वारा प्रयत्नपूर्वक फेकने पर भी चावल का अन्तरग होने के कारण अलग नहीं रहता, उसी प्रकार यह मायादि कंचुक, चावल की तरह अणु (पुरुष) का अन्तरंग होने के कारण, भुसी की भांति भिन्न होने पर भी, अभिन्न रूप में पूर्ण संवित् स्वरूप को आच्छादित किये रहता है--यह (कारिका में) बचा हुआ है। पर यह दुर्निवार भूसा दूर कैसे होता है ? दूसरा और कोई उपाय नहीं है यह 'पर' (तु) से प्रकट होता है। शिव अर्थात् 'स्वात्म-महेश्वर' का यह जो मार्ग अर्थात् 'परम अद्वय

---

१. विद्या तत्त्व के सम्बन्ध में उल्लेखनीय अवतरण है :—

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुद्भावयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैरद्यैः ॥

षड्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक ९ ।

२. श्रीक्रमोदय में भी इन पाँच कंचुकों को पाश कहा गया है :—

रागो माया कला विद्या नियतिः काल एव च ।
पंचकृत्याश्रयाः सर्वे पाशाश्चेति प्रकीर्तिताः ॥

पाँचों तत्त्वों तथा उनके कंचुक होने के संबन्ध में महार्थमंजरी-टीका भी उल्लेखनीय है :—

कला तस्य किंचित्कर्तृत्वहेतुः, विद्या किंचित् ज्ञातृत्वकारणं, रागो विषयेषु अभिष्वंगः, कालो भावाभावानां भासनाभासनक्रमः, नियतिः मम इदं न मम इदं इत्यादिनियमहेतुः, एतत्पंचकं च आगमेषु स्वरूपावरकत्वात् कंचुकमित्युच्यते ।

—महार्थमंजरी-टीका, पृ० ४९

चित् आनन्दैकघन मैं हूँ, यह विश्व मेरी ही शक्तियों का विलासमात्र है'- की सरणि है, उसके प्रति दृढ़ता पूर्वक तत्परता ही योग अणु का पूर्ण होने के कारण स्वात्मा के साथ स्वस्वरूप सम्बन्ध—है जिससे 'वह' पूर्वोक्त कचुक विशेष रूप में शुद्ध हो जाता है अर्थात् स्वयमेव पूरी तौर से विलीन हो जाता है। कहने का मतलब है जब पशु परमेश्वर के शक्तिपात से विशुद्ध हो जाता है तो 'मैं ही महेश्वर हूँ' इस आत्मज्ञान के आविष्कार से पशुत्व का निर्माण करने वाला कंचुक रूप आवरण अपने-आप विलीन हो जाता है, स्वात्मज्ञान को छोड़कर नियति शक्ति से उत्पन्न किसी भी मायीय कर्म की कुछ नहीं चलती (अर्थात् स्वात्मज्ञान ही विशुद्धि का एकमात्र उपाय है ॥१८॥

उपर्युक्त अणु तथा भोक्ता का भोग्य अवश्य होना चाहिये—अतः प्रकृति[१] से सम्बन्धित तत्त्व- सृष्टि को बताते हैं :—

सुख-दुःख-मोहमात्रं निश्चय-संकल्पनाभिमानाच्च ।
प्रकृतिरथान्तःकरणं बुद्धि-मनोऽहङ्कृति क्रमशः ॥ १९ ॥

कारिकार्थ--**सुखदुःखमोहात्मिका प्रकृति है, और निश्चय, संकल्प तथा अभिमान से क्रमशः बुद्धि, मन और अहंकार हैं**[२] ॥१९॥

विवृत्यर्थ–सत्त्व, रज तथा तम का सुखदुःखमोहात्मक जो सामान्य रूप है जिसमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता--वही मूलकारण प्रकृति है। प्रकृति के बाद कार्यरूप अन्तःकरण का निर्देश--निश्चय इत्यादि से किया गया है। निश्चय अर्थात् यह ऐसा है, संकल्प अर्थात् मनन, अभिमान अर्थात् ममता ये क्रमशः बुद्धि, मन, अहंकार के रूप में यह तीन प्रकार का अन्तःकरण

---

१. प्रकृति भोग्य, दृश्य या वेद्य है जिसका सृजन कलातत्त्व से होता है :—

वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला ।

--तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १७१

त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम् ।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम् ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी भाग २) पृ० २३९

२. तुलनीय :—

(क) अध्यवसायो बुद्धिः ... सांख्यकारिका २३,

(ख) अभिमानोऽहंकारः ..... वही, २४,

(ग) उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् । वही, २७

है। ये गुणों (सत्त्व, रज तथा तम) के अङ्गाङ्गिभाव से कार्य हैं तथा भूत और इन्द्रिय आदि की दृष्टि से कारण हैं ॥१९॥

बाह्य करण बताते हैं :—

श्रोत्रं त्वगक्षि रसना घ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादौ ।
वाक्पाणि-पाद-पायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि पुनः ॥ २० ॥

कारिकार्थ—**शब्दादि (विषय) के लिये श्रोत्र, त्वक्, आँख, रसना घ्राण, बुद्धीन्द्रियाँ हैं, और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ हैं**[१] ॥२०॥

विवृत्यर्थ—शब्दादि विषयों का प्रतिपादन आगे करेंगे। उनकी ज्ञानप्रधान पाँच श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं, और पाँच क्रियाप्रधान इन्द्रियाँ हैं— वागादि। वचन, आदान, विहरण, विसर्ग और आनन्द कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। 'सुनता हूँ' 'कहता हूँ' इन दोनों तरीकों में अहंकार का सम्बन्ध होने के कारण (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ही) अहंकार के कार्य हैं[२] ॥२०॥

---

१. तुलनीय :—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥

—सांख्यकारिका, २६

२. सात्विकाहंकारोपादानत्वमिन्द्रियत्वम् ।

—सांख्यतत्वकौमुदी, (दे० कारिका २६)

तथा :—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ॥

—सांख्यकारिका, २५

प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विकां वैकृतात् सात्त्विकादहंकारात् प्रवर्तते ।

—वहीं, सांख्यतत्त्वकौमुदी ।

दश इन्द्रियाँ तथा त्रिविध अन्तःकरण का संक्षिप्त प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में इस प्रकार किया है :—

बुद्धिरध्यवसायः सामान्यमात्ररूपा, ग्राह्यग्राहकाभिमानोऽहंकारः, संकल्पादिकारणं मनः—इत्यन्तःकरणं त्रिधा । बुद्धौ शब्दाद्यध्यवसायरूपायामुपयोगीनि बुद्धीन्द्रियाणि पंच । कर्मणि तूपयोगीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि । तथा हि—त्यागो

एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितो यः स्यात् ।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो महो रसो गन्धः ।। २१ ।।

कारिकार्थ--**इनका जो सूक्ष्म और विभागरहित ग्राह्य विषय है, वह पाँच तन्मात्राएं हैं : शब्द, स्पर्श, तेज (रूप), रस, गन्ध ।२१।।**

विवृत्यर्थ--जो इन इन्द्रियों का ज्ञेय--कार्य के रूप में माना जाने वाला विषय अर्थात् गोचर--है वह विभाग से रहित अर्थात् विशेष से भिन्न सामान्यस्वरूप सूक्ष्म अर्थ है । वह शब्दादि का सामान्य रूप अर्थात् तन्मात्र है जैसे कि शब्दसामान्य या शब्दतन्मात्र । इसी प्रकार दूसरे भी (स्पर्श-तन्मात्र आदि) हैं । विषय और विषयी एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं अतः इन्द्रिय के समान ये पाँच तन्मात्राएँ भी अहंकार से ही उत्पन्न हैं ।।२१।।

विषयों के परस्पर मिश्रण से पृथिवी आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, यह बताते हैं :--

एतत्संसर्गवशात् स्थूलो विषयस्तु भूतपञ्चकताम् ।
अभ्येति नभः पवनस्तेजः सलिलं च पृथ्वी च ।। २२ ।।

कारिकार्थ--**इनके संसर्ग के कारण स्थूल विषय पांच भूत हो जाते हैं : आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी ।।२२।।**

विवृत्यर्थ--इन (तन्मात्राओं) के संसर्ग अर्थात् परस्पर संघर्ष की शक्ति से स्थूल विषय ही भूत बन जाते हैं । जैसे कि शब्दतन्मात्र से शब्द-विशेष आकाश उत्पन्न होता है, शब्द और स्पर्श से वायु, इन (शब्द और स्पर्श) के साथ रूप के मिलने से तेज, इनमें रस मिलने से जल, और गंध मिलने से पृथ्वी, इस प्रकार पाँच महाभूत पैदा होते हैं । कार्य में कारण के गुण होते हैं, इस प्रकार ये (पंच महाभूत) एक-एक अधिक गुण वाले होते हैं । कार्य-कारण-स्वरूपा यह प्रकृति परमेश्वर की इच्छा से पुरुष के लिये भोग्य

ग्रहणमिति द्वयम्--बहिर्विषयं यत् तत्र पाणिः, पायुः, पादः-इति करणानि । एतदेवान्तः प्राणे येन क्रियते तद् वागिन्द्रियम् । तत्क्षोभप्रशान्त्या विश्रान्ति-क्रियोपयोगी उपस्थः । सर्वदेहव्यापकानि च कर्मेन्द्रियाणि अहङ्कारविशेषात्म-कानि । तेन छिन्नहस्तो बाहुभ्यामाददानः पाणिनैवादत्ते, एवमन्यत् । केवलं तत्तत्स्फुटपूर्णवृत्तिलाभस्थानत्वात् पंचांगुलिरूपमस्याधिष्ठानमुच्यते । एषां च कार्यत्वेऽपि असाधारणेन करणत्वेन व्यपदेशः ।

(दे० भास्करी २, पृ० २४१)

रूप में प्रवृत्त हुई है। छत्तीस तत्त्वों वाले जगत् के प्रत्येक तत्त्व का इस प्रकार विभागपूर्वक निरूपण कर दिया गया है॥२२॥

तुष इव तण्डुलकणिकामावृणुते प्रकृतिपूर्वकः सर्गः।
पृथ्वीपर्यन्तोऽयं चैतन्यं देहभावेन॥ २३॥

कारिकार्थ--**जिस प्रकार छिलका चावल के दाने को ढक लेता है उसी प्रकार प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक की सृष्टि चैतन्य को देहभाव से ढक लेती है॥२३॥**

विवृत्यर्थ- पृथ्वी तक का यह प्राकृतिक सर्ग, जिस प्रकार तुष अर्थात् धान का छिलका चावल के दाने को ढक लेता है, उसी प्रकार कंबुक (भीतरी छिलका) के समान माया के कंचुक से ढंके हुए चैतन्य को पुनः तुष (बाहरी छिलके) के समान देहभाव से ढक लेता है, उस चैतन्य को प्राकार बनकर बन्द कर लेता है। इस सृष्टि के प्रमाता सकल-कला अर्थात् विशेष कार्यों तक की इन्द्रियमात्राओं से युक्त होने के कारण देहस्वभाव कहलाते हैं। जो स्थूल (विषयों) से रहित होते हैं वे विदेह और प्रलयाकल कहलाते हैं। इस प्रकार यह विश्व शिव से प्रारम्भ कर सकल तक सात प्रमाताओं[1] से युक्त है तथा रुद्र और क्षेत्रज्ञ से अधिष्ठित है॥२३॥

---

१. शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल या विज्ञानकेवल, प्रलयाकल या प्रलयकेवली या शून्यप्रमाता तथा सकल क्रमशः शिव, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, महामाया, (अर्थात् शुद्धाविद्या से नीचे और माया से ऊपर की अन्तराल स्थिति में), तथा प्रकृति-पृथ्वी तत्त्वों की स्थिति में माने गये हैं। इन सात प्रमाताओं के संबन्ध में प्रत्यभिज्ञाहृदय, उल्लेखनीय है जिसमें प्रमाता के अतिरिक्त अधिष्ठाता तथा तत्तदवस्थाओं में विश्व के स्वरूप का भी निर्देश है :--

तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः। ईश्वरतत्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः। विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्। मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः, तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मक-पूर्वावस्था-परिचितमेषां प्रमेयम्। मायायां शून्यप्रमातॄणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं

परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादि कञ्चुकं स्थूलम् ।
बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रयवेष्टितो ह्यात्मा ।। २४ ।।

कारिकार्थ—**परम (अन्तरंग) आवरण मल (आणव) है, मायादि (छह) सूक्ष्म कंचुक हैं, बाह्य और स्थूल (आवरण) देहरूप है, यह आत्मा इससे-तीन कोशों से ढपी हुई है ।। २४ ।।**

विवृत्यर्थ—अपने स्वरूप की हानि जिसका स्वरूप है ऐसी अख्याति ही चैतन्य का आणव मल है जो आन्तर है, सोने में खोट की तरह अन्तरंग आवरण या आच्छादन है चूँकि वह तदात्मा बनकर रहता है । माया से लेकर विद्या तक के छह कंचुक आत्मा का सूक्ष्म आवरण है, जैसे कि चावल का छिलका (कम्बुक) जो उसके पीठ पर रहता है जिससे ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का भेदमय बोध होता है । यह मायीय मल है । इसकी अपेक्षा 'बाह्य' अर्थात् भुसी की तरह प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर का अस्तित्वस्वरूप आवरण है जो स्थूल है, त्वचा, मांस आदि होने के कारण । यह तीसरा कार्म मल है जिससे प्रमाता शुभ और अशुभ कर्मों के संग्रह का पात्र बनता है । इस प्रकार पर (आणव मल), सूक्ष्म (मायीय मल) तथा स्थूल (कार्म मल)[1] इन तीन कोशों से ढपी हुई

प्रलीनकल्पं प्रमेयम् । क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतोभिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम् । तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः । ——प्रत्यभिज्ञाहृदय, (जयदेवसिंह) पृ० ४१-४२

मुख्य रूप में सात भेद होने पर भी गौण—मुख्यता से विकल्प तथा समुच्चय से अनेक भेद भी माने गये हैं ।

१ इन तीन मलों का विवेचन अन्यत्र निम्नांकित है :—

मलस्वरूप :—

अज्ञानं किल बन्धुहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम् ।
——तन्त्रसार, आ० १ पृ० ५

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।
—तन्त्रालोक भाग १, पृ० ५८

योग्यतामात्रमेवैतत् भावव्यच्छेदसंग्रहे ।
मलस्तेनास्य न पृथक् तत्त्वभावोऽस्ति रागवत् ।।
—तन्त्रालोक ६, पृ० ५७

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।

—मालिनीविजयवार्तिक, काण्ड २, १८६

आणव मल :—

संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् ।

—स्वच्छन्दतन्त्रटीका, पृ० ५१९

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी २) पृ० २४८

संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे ।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात् स लक्ष्यते ॥ वही

मायीय मल :—

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी २), पृ० २४८

शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः ।

—तन्त्रालोक १, ५६

कार्ममल :—

देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम् ।
तथापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ३-२-१० (भास्करी भाग २) पृ० २५३

कर्मतस्तु शरीराणि विषयाः करणानि च ।

—वही, उद्धृत, पृ० २५५

त्रिविध मल :—

अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम् । ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वप्राप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम् । क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहणपूर्वकम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम् । प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० ६० । स्वातन्त्र्यहानिरूप आणव मल 'विज्ञान-केवल' में, स्वातन्त्र्य का अबोधरूप आणव मल 'प्रलयाकल' (जिनमें कार्म मल भी रहता है और विकल्प से मायीय भी) में तथा देवादि सभी संसारी प्रमाताओं में त्रिविध मल और मुख्यतः कार्म मल पाया जाता है । इस संबन्ध में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-२-६-१० (भास्करी, भाग २, पृष्ठ २५०-२५५) द्रष्टव्य हैं ।

आत्मा प्रकाशमान (अपरिमित) होने पर भी घर में प्रतिबिंबित आकाश की भाँति संकुचित हो जाती है और इसलिये अणु और पशु कहलाती है ॥ २४ ॥

इन (मलों) से संबन्ध के कारण वह (प्रमाता) उपहत सा हो जाता है, यह बताते हैं :—

अज्ञान-तिमिरयोगाद् एकमपि स्वं स्वभावमात्मानम् ।
ग्राह्य-ग्राहकनानावैचित्र्येणावबुध्येत ॥ २५ ॥

कारिकार्थ—**अज्ञानतिमिर से संयोग के कारण, एक होने पर भी अपने आत्म-स्वभाव के ग्राह्य (विषय, प्रमेय) तथा ग्राहक (प्रमाता-विषयी) के विविध वैचित्र्य से (युक्त) समझने लग जाता है ॥ २५ ॥**

विवृत्यर्थ—तीनों कोशों (मलों) से संबद्ध यह आत्मा आत्माज्ञान रूप अंधकार से संबन्ध के कारण 'एक होने पर भी' अर्थात् अद्वयस्वभाव का होते हुये भी अपने, निज के दूसरे के नहीं, स्वभाव को अर्थात् आत्म-सद्भावरूप चैतन्य को प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के नानात्मक भेदप्रपंच के रूप में जानने लगता है अर्थात् अभेद के स्थान पर भेद का अभिमान करने लगता है। जैसेकि तिमिर से ग्रस्त व्यक्ति एक चन्द्र को देखने पर भी 'आकाश में ये दो चन्द्र हैं' यह समझता हुआ दुनिया को भी 'इन दो चन्द्रों को देखो' इस तरह दिखाता है। वस्तुतः वह चन्द्र तो एक ही है पर तिमिर दोष के कारण वैसा (अर्थात् दो) प्रतीत होता है जिससे कि तिमिर दोष वाले व्यक्ति को उद्वेग या आनन्द होने लग जाता है। उसी प्रकार अज्ञानरूप तिमिर से भेद-ज्ञान करने वाला (प्रमाता) अपने से अभिन्न होने पर भी सब कुछ को भिन्न मानता है, भिन्न कर्मफल की कामना करता है जिससे उसे बारबार स्वर्ग-नरकादि भोगों को भोगना पड़ता है। इसीलिये अज्ञान का तिमिर से रूपक दिया गया है क्योंकि (दानों में) विपरीत का आभास होता है[1] ॥२५॥

आत्मा के अद्वय को दृष्टान्त के द्वारा उदाहृत करते हैं :—

१. इस प्रसंग में आचार्य शंकर के अध्यासभाष्य से कुछ अवतरण उल्लेखनीय हैं :— अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योध्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदं' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।——तथा च लोकेऽनुभवः–शुक्तिका हि रजतवदाभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति । अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलम-लिनताद्यध्यस्यन्ति एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मनि अपि अनात्माध्यास : ।

रस-फाणित-शर्करिक-गुड-खण्डाद्या यथेक्षुरस एव ।
तद्वद् अवस्थाभेदाः सर्वे परमात्मनः शंभोः ॥ २६ ॥

कारिकार्थ—**जैसे कि (गन्ने का) रस, सीरा, शक्कर, गुड़ आदि ईख के ही रस हैं, उसी प्रकार सभी परमात्मा शंभु के अवस्था-भेद हैं ॥ २६ ॥**

विवृत्यर्थ—ईख के भेद रसादि जैसे एक इक्षुरस ही है क्योंकि वस्तुतः माधुर्य सभी में पाया जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् आदि अवस्था-भेद, ग्राह्य-ग्राहक प्रपंच रूप सभी भेद, परमात्मा-स्वस्वभाव-शंभु अर्थात्-चैतन्यमहेश्वर के ही हैं। क्योंकि वही भगवान् सभी का आत्मभूत है और अपने स्वातन्त्र्य से विभिन्न भूमिकाओं को ग्रहण किया करता है तथा ग्राह्य (प्रमेय) तथा ग्राहक (प्रमाता) आदि की विभिन्न अवस्थाओं से भेद—ग्रहण करता है, जैसे कि गन्ने का रस। पर उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, अतः वह एक ही है क्योंकि सभी अवस्थाओं में उसी संविद् की अनुगति पाई जाती है। इस प्रकार सर्वत्र एकरूपता 'दिखाई पड़ने के कारण' प्रमाता सर्वद्रष्टा होता है। जैसाकि श्रीशम्भुभट्टारक ने (कहा है :—)

'एक भाव सभी भावों का स्वभाव है, सभी भावों का स्वभाव एक भाव है, जिसने परमार्थतः एक भाव का साक्षात्कार कर लिया है वह सभी भावों का वस्तुतः साक्षात्कार कर लेता है ॥'

भगवद्गीता में :—

'जिससे (मनुष्य) पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी भाव को विभागरहित रूप में देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझो।' ॥२६॥

दूसरे दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित भेद संवृति (व्यावहारिकता) के लिये स्वीकार होने पर भी सत्यभूमि में नहीं माने गये हैं, यह बताते हैं :—

विज्ञानान्तर्यामि-प्राण-विराड्देह-जाति-पिण्डान्ताः ।
व्यवहारमात्रमेतत् परमार्थेन तु न सन्त्येव ॥ २७ ॥

कारिकार्थ—**विज्ञान, अन्तर्यामी, प्राण, विराट् देह, जाति और व्यक्ति तक, यह (सब) व्यवहार ही है, परमार्थतः इनकी सत्ता नहीं है ॥ २७ ॥**

विवृत्यर्थ--विज्ञान अर्थात् केवल बोधसामान्य, उपाधिहीन और नामरूप से विहीन होकर भी, अनादिवासनाओं के जगने की विचित्रता के कारण नीलसुखादि के रूप में, बाह्य रूप में, नानात्वेन भासित होता है—यह विज्ञानवादी (बौद्ध) कहते हैं।

'पुरुष ही यह सब है', 'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है' इस युक्ति से सभी में अन्तर्यामी परब्रह्म ही अनादि अविद्या के कारण भेद से प्रकाशित होता है—यह ब्रह्मवादी कहते हैं।

प्राण को ब्रह्म बताने वाले दूसरे (दार्शनिक) प्राणना ही विश्व को व्याप्त करके अवस्थित है, प्राणना के अतिरिक्त ब्रह्म का दूसरा कोई स्वरूप नहीं है, इस प्रकार विमर्शपूर्वक शब्दब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं।

दूसरे मानते हैं कि ब्रह्म का सारभूत वैराज है जो विराड्देह के रूप में है। जैसाकि कहा है :—

'जिसका अग्नि मुख है, द्यौ सिर है, आकाश नाभि है, पृथ्वी चरण हैं, सूर्य नेत्र है, दिशाएँ श्रोत्र हैं, उस लोकात्मा को नमस्कार है।' इत्यादि।

वैशेषिक आदि कहते हैं कि महासत्ता रूप सामान्यात्मा वस्तु, जो सभी गुणों का आश्रय है, परमार्थतः सत् है[1]।

दूसरे पिण्ड अर्थात् व्यक्ति को ही परमार्थतः सत् मानते हैं। सामान्य नामक एक कुछ भी नही है जो अनेक गुणों का आश्रय है, न इसे मानना युक्तिसंगत है क्योंकि व्यवहार व्यक्तियों तक ही सीमित होता है फिर सामान्य को मानने से क्या लाभ ?—इस प्रकार नाना प्रकार के वृत्तिभेदों से सामान्य को विवादग्रस्त बताते हुये 'व्यक्तियों' का अनुगम नहीं होता है और दूसरा कोई अनुगति का (सामान्यात्मा) तत्त्व नहीं है, इत्यादि बहुत सी बातें कहकर जाति को परमार्थ नहीं मानते हैं। इस प्रकार विज्ञान से प्रारम्भ कर व्यक्ति तक के जितने भेद हैं वे सभी व्यवहारमात्र हैं। इस स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार प्रकाशमान वस्तु (महेश्वर) का

---

१. न्याय-वैशेषिक सामान्य को पर और अपर के रूप में दो प्रकार का मानते हैं। द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली जाति पर सामान्य या सत्ता कहलाती है।

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।

—न्यायकारिकावली (भाषापरिच्छेद) १८

दुराव नहीं किया जा सकता अतः ये (विज्ञानादि) भेद संवृतिसत्य के रूप में आभासमान हैं, परमार्थतः इनकी सत्ता नहीं है अर्थात् ये भेद सतत्त्व नहीं है, केवल दूसरे दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित भेद के रूप में विद्यमान हैं। अतः एक ही परमप्रकाश रूप परमार्थ वाला, स्वतन्त्र, चेतन महेश्वर है जो भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रकाशित होता रहता है क्योंकि उससे भिन्न दूसरा तत्त्व अप्रकाश-रूप होगा जो प्रकाशित नहीं हो सकता। जैसाकि कहा गया है :–

'दार्शनिक प्रक्रिया के व्यसनी अपनी बुद्धियों से उत्प्रेक्षा करके जिस-जिस को 'तत्त्व' कहते हैं वह आप (महेश्वर) का ही तद्भाव (तस्य भावः तत्त्वम्) है, और कुछ नहीं, और सब तो विद्वानों का संज्ञाओं के लिये विवाद मात्र है।' ॥ २७ ॥

अब भ्रान्ति की असत्यता प्रतिपादित करने के लिये उदाहरण बताते हैं :--

रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुरुते च मृत्युपर्यन्तम् ।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम ॥ २८ ॥

कारिकार्थ--**रस्सी में सांप नहीं होता, पर मरने तक डर बनाये रखता है, भ्रान्ति की शक्ति महान् है जिसका विवेचन करना संभव नहीं है ॥ २८ ॥**

विवृत्यर्थ—भ्रान्ति का स्वरूप है पूर्णता की अख्याति (अप्रतीति), उसकी अतद्रूप के आभासन में महती या उत्तम शक्ति, सामर्थ्य है जिसे कोई सोच तक नहीं सकता। जैसा कि वस्तुदृष्टि से न दिखाई पड़ने पर भी लम्बाई और चक्कर के रूप में फेंट के भ्रम से 'यह सर्प है इस प्रकार रस्सी द्रव्य में भी प्रमाताओं को असदर्थ का ज्ञान होना सर्प की भ्रान्ति है जो सही वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न मरण तक के भय को उत्पन्न कर देती है। यह अनुभव से प्रसिद्ध है कि ठूंठ को भूत मानकर अथवा खुद ही भीषण आकार बनाकर भ्रान्ति में पड़कर कई हृदयगति के रुक जाने से मर जाते हैं। अस्तु, भ्रम ही अपूर्णता की ख्याति का हेतु है ॥ २८ ॥

इसी की प्रस्तुत प्रसंग में योजना करते हैं :—

तद्वद् धर्माधर्मस्वर्निरयोत्पत्ति-मरण-सुख-दुःखम् ।
वर्णाश्रमादि चात्मन्यसदपि विभ्रमबलाद्भवति ॥ २९ ॥

कारिकार्थ—**उसी प्रकार धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, वर्ण-आश्रम, आदि असत् होते हुये भी[1] आत्मा में भ्रम के कारण प्रतीत होते हैं ॥ २९ ॥**

विवृत्यर्थ—जिस प्रकार रज्जु वास्तविक सत् होने पर भी सर्प के रूप में जानी जाकर सर्प की ही अर्थक्रिया को करती है इसी प्रकार देह को आत्मा मानने वालों के दिल में धर्मादि असत् होने पर भी, तत्त्वतः अविद्यमान होने पर भी, 'भ्रम के कारण' अर्थात् माया की मोहनशक्ति से 'यही तत्त्व' है इस रूप में भ्रान्ति द्वारा सत् बन जाते हैं। धर्म है अश्वमेधादि, अधर्म है ब्रह्महत्यादि, स्वर्ग अनुत्तम आनन्द है, नरक है यातना, उत्पत्ति जन्म है, मरण जन्म का अभाव है, सुख आह्लाद है, दुःख राजस विक्षोभ है, वर्ण मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि (भाव) हैं, आश्रम ब्रह्मचारी आदि के हैं आदि शब्द से तप, पूजा व्रत आदि अभिप्रेत हैं। इस सबका सार केवल कल्पना है, भ्रम का खेल है, जिससे कि माया शक्ति से देहादि में आत्मा का अभिमान होता है। यह भ्रम की ही शक्ति है कि पशु (माया-प्रमाता निरन्तर स्वर्ग, नरक, जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं, वस्तुतः आत्मा में, जो कि अपरिमित चित् आनन्द से परिपूर्ण है, धर्माधर्मादि कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥

इस प्रकार अविद्यमान वस्तु के प्रतिभासन में भ्रान्ति की शक्ति का विवेचन करके उसकी उत्पत्ति बताते हैं :—

एतत् तद् अन्धकारं यद् भावेषु प्रकाशमानतया।
आत्मानतिरिक्तेष्वपि भवत्यनात्माभिमानोऽयम् ॥ ३० ॥

---

१. इस संबंध में शांकरभाष्य उल्लेखनीय है :—
तथाहि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि-विशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा-पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति वाह्य-धर्मानात्मनि अध्यस्यति। तथा देहधर्मान्-स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लंघयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्-मूकः क्लवः बधिरः अन्धोऽहमिति। तथा अन्तःकरणधर्मान्-कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य, तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिषु अध्यस्यति।—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (नि०सा०) पृ० ३-४। २५वीं कारिका के अन्त में दी हुई टिप्पणी भी देखिये।

कारिकार्थ—**यह (भ्रान्ति) वह अन्धकार है जो पदार्थों में प्रकाशमान होने से आत्मा से अभिन्न (पदार्थों) को भी अनात्मा समझता है ॥ ३० ॥**

विवृत्यर्थ—यह वह अन्धकार है अर्थात् पूर्णत्व की अप्रतीति-रूपा यह वह विश्वमोहिनी भ्रान्ति है जिसका अभी प्रतिपादन कर आये हैं, जो प्रमाता, प्रमेय के रूप में विश्व में विद्यमान सभी पदार्थों में प्रकाशमान है। 'अप्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता' अतः प्रकाशमानता की अन्यथा संगति न होने से प्रकाश के शरीरभूत, आत्मा अर्थात् चैतन्य महेश्वर से अपृथक् होने पर भी जो पदार्थों को अतिरिक्त, बाह्य और अहं से भिन्न माना जाता है, वह अनात्मा का अभिमान वास्तविक चैतन्य रूप को हटाकर उन्हें अवास्तविक, जड़, बना देता है, अभिप्राय यह है : पदार्थों के प्रकाशन में किसी अप्रकाशरूप बाह्य वासनादि को हेतु मानना असंगत है अतः स्वात्मप्रकाश ही स्वतन्त्र रहकर नील-सुखादि के रूप में प्रकाशित होता है। प्रमाता और प्रमेय के रूप में चैतन्यस्वरूप मैं ही प्रकाशित रहता हूँ—यह जो वास्तविक रूप है वह तो प्रकाशित नहीं होता अपितु अवास्तविक भेद ही प्रकट रहता है। अस्तु, तात्त्विक प्रकाश का अभाव होने के कारण भ्रान्ति का अन्धकार के साथ रूपण किया गया है ।। ३० ॥

आत्मा में पहले अनात्मा का अभिमान होता है फिर अनात्मा में आत्मा का अभिमान होता है, यह प्रतिपादन करते हुवे भ्रान्ति की अत्यन्त मोहरूपता को बताते हैं :—

तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महानयं स्फोटः ।
यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम् ॥ ३१ ॥

कारिकार्थ—**अनात्मा देह-प्राणादि में आत्मा का अभिमान होना अन्धकार (अन्धेपन) के ऊपर अन्धकार (अन्धापन), और छाले पर बड़ी फुन्सी है ॥ ३१ ॥**

विवृत्यर्थ—पहले तो अख्याति-तिमिर एकसंवित्स्वरूप पदार्थों में भेदरूप जड़ता ला देता है जिससे कि आत्मा से अभिन्न पदार्थ उससे भिन्न रूप में आभासित होते हैं, इसीलिये तिमिर (अक्षिदोष) के समान होने से अख्याति को तिमिर कहा गया है। जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी आंखों के दोष, रेखा—तिमिर, से दो लगना है—'वे दो चन्द्र हैं'। उसी प्रकार अख्याति रूपी तिमिर, आत्मस्वरूप सभी वस्तुओं के एक होने पर

भी उन्हें अनात्मा के रूप में, भिन्नतया प्रकाशित करता रहता है। ऐसी स्थिति में दूसरा तिमिर यह आपड़ा, मोह में एक और मोह और फोड़े में फुन्सी पैदा हो गयी कि अख्याति के द्वारा जिनका चित्स्वरूप हटा दिया गया था और जो विश्व के पदार्थ जड़ बना दिये गये थे उन्हीं में से कुछ जड़, देह-प्राणादि वेद्य-खण्ड, 'मैं कृश हूँ, स्थूल हूँ, क्षुधित हूँ, सुखी हूँ, मैं कुछ नहीं, नहीं' आदि के रूप में अनात्मा में प्रमातृतया आत्माभिमान करना अतद्रूप को तद्रूप समझना, यह और भी परेशानी है।

अगर आत्मा का अध्यास के बिना परेशानी है तो नील-सुखादि में भी वही हो, अर्थात् विषय में आत्मा का अध्यास हो अथवा कहीं भी (आत्मा का अध्यास न हो) पर यह जो कुछेक जड़ देह आदि में, जो लौंदे के समान है, आत्मा के रूप में अहन्तारस का अभिषेक है, तथा नील-सुखादि को इद के रूप में अनात्मा समझना है, यही पूर्ण शोचनीय ससार है कि अभिमान (अध्यास) के द्वारा उत्पन्न द्वन्द्व की पीड़ा पशुओं (प्रमाताओं) को खींचती रहती है। जैसा कि योगिनी मदालसा ने मार्कण्डेय पुराण (१५-१८) में कहा है :--

"धरती पर यान (सवारी) है और सवारी पर देह है, देह पर दूसरा पुरुष बैठा है, फिर भी धरती पर उतनी ममता नही होती जितनी कि अपनी देह में, यह अत्यन्त मूर्खता है" ॥३१॥

इस प्रकार अख्याति के सामर्थ्य से मिथ्या विकल्पों द्वारा (प्रमाता) अपने को किस प्रकार बांधता है, यह बताते है :--

देह-प्राणविमर्शनधीज्ञान-नभःप्रपञ्चयोगेन ।
आत्मानं वेष्टयते चित्रं जालेन जालकार इव ॥ ३२ ॥

कारिकार्थ--**आश्चर्य है कि देह और प्राण के विमर्श, बुद्धि के निश्चय और आकाश के प्रपंच के साथ अपना संबन्ध करके अपने को बाध लेता है, जैसे कि जाल से जालकार ॥३२॥**

विवृत्यर्थ -जिसके चैतन्य को अख्याति विनष्ट कर देती है ऐसा सभी प्रमाता अपने विकल्परूपों पाशों से व्यापक आत्मा को भी बांध देता है। कैसे ? देह और प्राण के विमर्श, बुद्धि के ज्ञान, अर्थात् निश्चय, आकाश के विस्तार के साथ देहादि के विकल्पना--सम्बन्ध के द्वारा। जैसे 'मैं कृश, स्थूल, रूपवान्, पण्डित हूँ' -आदि के रूप में बालक, स्त्रियां तथा

पामर खेतिहर अपने को कुछ-कुछ विवेचक समझकर इस प्रकार के विकल्पों से देह को ही आत्मा के रूप में मानते हैं।

देह तो यहीं विनष्ट हो जाता है, वह आत्मा कैसे हो सकता है? अतः 'जो भूखा, प्यासा है वह मैं हूँ'--इस प्रकार प्राण को आत्मा मानने वाले अपने को और भी अच्छा विवेचक समझते हैं।

'देह और प्राण लौंदे के समान जड़ हैं, इन्हें आत्मा कैसे माना जा सकता है? अतः मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' आदि के रूप में जो सुख और दुःखादि का ज्ञान करता है, वह आत्मा है, इस प्रकार पुर्यष्टक को आत्मा मानने वाले मीमांसक आदि भी विवेचकों में श्रेष्ठ हैं।

यह सुख-दुःखादि भी बुद्धि का धर्म है, इसे आत्मा कैसे बताया जा सकता है? अत देह, प्राण, बुद्धि-रूप विकल्पों का जहाँ अभाव है वह आत्मा है, यह शून्याभिमानियों का मत है। जो कुछ भी प्रकाशित होता है, वह 'अहं' नहीं है अतः अप्रथारूप (अप्रकाशस्वरूप) शून्य ही. जिसका स्वभाव सबकी व्यावृत्ति करना है, आत्मा है. यह (कारिका के) आकाश शब्द से अभिप्रेत है। यह शून्य भी समाधि की स्थिति में जब वेद्य बना लेते हैं तो 'हम यह शून्य भी नहीं है' अतः एक दूसरे शून्य को आत्मा बना कर 'नेति' 'नेति' के रूप में ब्रह्मवादियों द्वारा स्वीकृत विशिष्ट शून्य का परित्याग कर शून्यात्मता को ग्रहण कर लेते हैं, इस प्रकार कारिका में 'आकाश के प्रपंच' का निर्देश है। इस प्रकार संवित् (चैतन्य) के स्वरूप को न पा सकने से शून्य को आत्मा मानने वाले योगी सुषुप्ति की कन्दरा में निमग्न होकर जडात्मा तथा भ्रान्त बने रहते हैं और चैतन्यस्वरूप आत्मा को भी जड़ता से जकड़ देते हैं।

यह (सब) आश्चर्य की बात है, या परेशानी है जिसे मनुष्य स्वयं तो (अपने लिये) नहीं कर सकता। (पर स्वयं करता है) इस बात का दृष्टान्त बताते हैं कि जैसे जालकार या मकडी अपने द्वारा निर्मित फेन से जाल (आवरण) का निर्माण कर सर्वत्र विद्यमान आत्मा (या अपने शरीर को) बाँध लेता है जिससे कि आगे चलकर विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार देह आदि को आत्मा माननेवाला अपने द्वारा कल्पित विकल्पों 'मैं, मेरा' आदि से अपनी आत्मा को बाँध लेता है जैसा कि बौद्धों ने कहा है :—

अपना (आत्मा) मानने पर पराया कहलाता है। अपने और पराये के भेद से परिग्रह और द्वेष होते हैं। इन्हीं से बँधकर सारे दोष पैदा होते हैं।[1] ॥ ३२ ॥

---

१. इस कारिका के अन्तर्गत विवेचित विषय की तुलना के लिये निम्नलिखित अवतरण उल्लेखनीय है :—

'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा' इति चार्वाकाः । नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम् । अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा इति मन्वानाः मीमांसकाः अपि बुद्धावेव निविष्टाः । ज्ञानसन्तान एव तत्त्वम् इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः । प्राण एव आत्मा इति केचित् श्रुत्यन्तविदः । असदेव इदमासीत् इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः । माध्यमिका अपि एवमेव । परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिंगप्राया एव जीवाः इति पांचरात्राः । परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिमवलंबन्ते । सदेव इदमग्र आसीत् इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः । शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपमात्मतत्त्वम् इति श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः । × × ×

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंस्यव्यक्ते पांचरात्रिकाः ॥

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः । विश्वमयम् इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः । विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः ।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र ८ की वृत्ति ।

तथा—

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्तः ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

—शांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० ६

सदानन्दकृत वेदांतसार में श्रुति वाक्यों का आधार लेकर चार्वाक आदि के आत्मसंबंधी मतों का विवेचन भी तुलनार्थ द्रष्टव्य है ।

अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतिः—पुत्र आत्मेति वदति । चार्वाकस्तु—स्थूलं शरीरमात्मेति वदति अपरश्चार्वाकः—इंद्रियाण्यात्मेति ।

देहादि में प्रमातृभाव से उत्पन्न, दुर्निवार महामोह कैसे विनष्ट होता है ?—इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् का स्वातन्त्र्य ही इसका कारण है :—

स्वज्ञानविभवभासनयोगेनोद्वेष्टयेन्निजात्मानम् ।
इति बन्धमोक्षचित्रां क्रीडां प्रतनोति परमशिवः ॥ ३३ ॥

कारिकार्थ—**परम शिव अपने ज्ञान-वैभव के प्रकाश का परिशीलन करने से अपने आपको बन्धनमुक्त कर लेता है, और इस प्रकार वह बन्धन एवं मोक्ष की विचित्र लीला रचता है**[1] ॥ ३३ ॥

विवृत्यर्थ – चैतन्य स्वरूप आत्मा का जो ज्ञान अर्थात् अपने स्वातन्त्र्य का बोध है उसके 'वैभव' अर्थात् देहादि में (आत्मा के) अभिमान के विगलित होने से चित्स्वरूप में परम अहन्ता--चमत्कार रूप स्वातन्त्र्य का विस्तार होता है--मैं चित् आनन्दघन स्वतन्त्र हूँ। उसी चित्स्वातन्त्र्य-स्वरूप वैभव का प्रकाशन 'यह सब मेरा वैभव है'[2] इस प्रकार बाह्य माने जाते सब कुछ का आत्मत्वेन स्वीकार है। उसका परिशीलन या विमर्श करते रहने से आत्मा में विमर्श दृढ़ होता है। इसे अपने ज्ञान-वैभव के प्रकाश का परिशीलन करने से खुद अपने को (और किसी उत्पादित चैतन्य को नहीं) जो देह, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य के विकल्प-पाशों से जकड़ा हुआ था, उसी को 'मैं चैतन्यस्वरूप स्वतन्त्र हूँ' इस प्रकार के विमर्श से भगवान् फिर छुड़ा देते हैं, बन्धन से मुक्त कर देते हैं। अतः अख्याति की

अपरश्चार्वाकः—प्राण आत्मेति वदति। अन्यस्तु चार्वाकः—मन आत्मेति वदति बौद्धस्तु—बुद्धिरात्मेति वदति। प्राभाकरतार्किकौ तु—अज्ञानमात्मेति वदतः। भाट्टस्तु—अज्ञानोपहितचैतन्यमात्मेति वदति। अपरो बौद्धः—शून्यमात्मेति वदति।

—वेदांतसार, पृ० ७२-७९

१. देवः स्वतंत्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः ॥

—तन्त्रालोक, भाग ८। आ० १३, १०३

२. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥

—प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० १२ के अन्तर्गत उद्धृत।

शक्ति से जो आत्मा पर देहादि का आवरण आया था, वह ख्याति के बल से विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार (बन्धन का) इतना दोष स्वयं के विकल्पों द्वारा कल्पित होता है। जैसा कि **ग्रन्थकार** ने **तन्त्रसार** में प्रतिपादित किया है :--

'पशुजन (प्रमाता) का यह सोचना कि मैं जड़ हूँ, कर्मों से जकड़ा हूँ, मलिन हूँ, दूसरों से संचालित (प्रेरित) हूँ, दूसरे दृढ़ निश्चय (कि-- मैं स्वतन्त्र हूँ) को पा जाने की युक्ति से उसे (पशुजन को) पति, विश्व-वपु तथा चैतन्यस्वरूप बना देता है।'

भगवान् बन्धन और मोक्ष क्यों कर करते हैं ? जैसा कि पहिले प्रतिपादित कर चुके हैं पूर्ण चिदानन्दैकघन स्वतन्त्र महेश्वर अपने स्वरूप के गोपन की क्रीड़ा के स्वभाव से अख्याति का प्रकाशन कर अपने को ही देहादि-प्रमातृभाव से युक्त करके स्वरूप को ढँककर बन्धन रच डालते हैं। और फिर अपनी इच्छा से आत्मज्ञान का प्रकाशन करते हुये देहादि में प्रमातृभाव का बन्धन हटाकर, वही अपने को मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार दोनों तरह से बन्धन और मोक्ष का, संसार और अपवर्ग का, आश्चर्यमय खेल (विचित्र क्रीड़ा) खेलते रहते हैं-- मैं एकाकी नहीं खेलता' (यह सोचकर)[1]। यह शिव का स्वभाव ही है कि अपने स्वरूप में स्थित रहते

---

१. कारिका के सम्पूर्ण सन्दर्भ की तुलना निम्नांकित उद्धरणों से की जा सकती है :—

(क) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। —ब्रह्मसूत्र २-१-३३

यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित् प्रयोजनमनभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीड़ाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किंचित् प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति। एवमीश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। × × × यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसंभवेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलेव केवलेयम्, अपरिमितशक्तित्वात्।

—शांकरभाष्य, वही

(ख) सांख्यदर्शन में यह लीलाव्यापार पुरुष नहीं अपितु प्रकृति-नटी करती है। पुरुष का बंधन-मोक्ष नहीं होता, प्रकृति ही अपने को बाँधती-छोरती रहती है।

हुये भी विभिन्न भूमिकाओं को धारण कर सभी में अनुभाविता के रूप में प्रकाशित रहते हैं।--यह स्वातन्त्र्य है ॥ ३३ ॥

यही नहीं, अपितु जो दूसरे अवस्थाभेद हैं वे भी महेश्वर के आत्म-स्वरूप में विश्रान्त होकर ही प्रकाशित होते हैं, यह प्रतिपादित करते हैं:—

सृष्टि-स्थिति-संहारा जाग्रत्स्वप्नौ सुषुप्तमिति तस्मिन् ।
भान्ति तुरीये धामनि तथापि तैर्नावृतं भाति ॥ ३४ ॥

कारिकार्थ--**सृष्टि, स्थिति, संहार, जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति उस तुरीय (चतुर्थ) धाम (अवस्था) में प्रकाशित रहते हैं, किन्तु (तुरीय) उनसे आवृत नहीं होता ॥ ३४ ॥**

विवृत्यर्थ--विश्व की दृष्टि से जो सृष्टि आदि हैं तथा मायाप्रमाता (जीव) की दृष्टि से जो जागरण आदि की अवस्थाएँ हैं, वे दोनों ही

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥
—सांख्यकारिका, ५९

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ वहीं, ६२
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ —वहीं, ६३

(ग) सृष्टि-निमित्त के संबंध में गौडपादकारिकाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥
—गौडपादकारिका, १७-९ ।

बन्धन-मोक्ष के संबन्ध में भी गौडपाद की कारिका उल्लेखनीय है :—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥—वहीं २, ३२ ।

आनन्दघन इस ईश्वर में अर्थात् तुरीय धाम या चतुर्थ पद, जो पूर्ण अहन्ता-रूप है, मैं प्रकाशित होती हैं--उसी (तुरीय) में विश्रान्त होकर कल्पित प्रमाता की दृष्टि से बाह्य रूप में स्वरूपलाभ करती हैं। जो परमेश्वर की भित्ति (धाम, पद, आधार) में प्रकाशित नहीं है वह बाह्यरूप में भी प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः

'तीनों में चतुर्थ पद (तुरीय धाम) तेल की तरह व्याप्त है।' (**शिवसूत्र** ३।२०) के अनुसार सभी अवस्थाओं में तुरीय रूप अनुस्यूत है। यही परमार्थ है। पर क्या इन (अवस्थाओं) से उस (तुरीय धाम) का स्वरूप आच्छादित हो जाता है? इसी के उत्तर में कहना है कि 'वह (तुरीय) उनसे आवृत नहीं होता'। इन तीनों से परे होने के कारण सभी का अनुभविता होने के कारण (तुरीय धाम) सर्वत्र प्रकाशित अवश्य होता है और उन (तीनों अवस्थाओं) को व्याप्त भी किये रहता है (अथवा तीनों से आवृत रहता है) तथापि उनके आवरण से उसके पूर्णस्वरूप का तिरोधान नहीं होता। अस्तु, शिवधाम सभी अवस्थाओं में सदा परिपूर्ण रहता है[1] ॥ ३४ ॥

उपनिषद् के शब्दों में जाग्रत् आदि तीन (अवस्थाओं) का स्वरूप बताते हुये, इनमें अनुस्यूत होकर भी तुरीय इन (तीनों) से परे है, यह निवेदित करते हैं :--

जाग्रद्विश्वं भेदात् स्वप्नस्तेजः प्रकाशमाहात्म्यात्।
प्राज्ञः सुप्तावस्था ज्ञानघनत्वात्ततः परं तुर्यम्॥ ३५ ॥

कारिकार्थ--**जागरण, भेद होने से, विश्व है। स्वप्न, प्रकाश की महिमा के कारण, तेज (अवस्था) है। सुषुप्ति अवस्था, ज्ञानघन होने से, प्राज्ञ है। तुरीय इससे परे है ?**[2] ॥ ३५ ॥

---

१. माण्डूक्योपनिषत् में तुरीय पद का उल्लेख इस प्रकार है :—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं च प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।
—माण्डूक्योपनिषत् १-७।

२. इन तीनों अवस्थाओं का माण्डूक्योपनिषद् तथा कारिका में वर्णन इस प्रकार है :—

विवृत्यर्थ– जाग्रदवस्था ही विश्व अर्थात् ब्रह्म का विराट् स्वरूप है। क्योंकि, महेश्वर ने जिन पाँच शब्दादि विषयों की भिन्नतया सृष्टि की है, उसी के सम्बन्ध में चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं। इस प्रकार एक ही ब्रह्म विषय और विषयी के रूप में स्थित है जिससे इन्द्रियज्ञान के नाना वैचित्र्य (उत्पन्न होते) हैं। अतः **शिवसूत्र** (१-८) में (कहा है कि) ज्ञान जागरण है। इसी को ब्रह्म की विराट् अवस्था माना जाता है। जैसी कि श्रुति है :—

'जो[1] सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं-वाला और सब ओर पैरोंवाला है। वह एक देव द्यौ (द्युलोक) और पृथ्वी को उत्पन्न करता हुआ। (मनुष्य-पक्षी आदि को) दो भुजाओं और पतत्रों (पैरों एवं पंखों) से युक्त करता है।' **श्वेताश्वतर उपनिषद्** ३-३

स्वप्न ब्रह्म की तेजोऽवस्था है। क्योंकि उसमें प्रकाश की महिमा रहती है। स्वप्न में बाह्य इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों में प्रवृत्त नहीं होती, और न परमार्थतः (उस स्थिति में) बाह्य शब्दादि होते हैं और न बाह्य रूप में अध्यवसाय (ज्ञान) करने के लिये अविद्यादि किसी प्रकार का (विषयों

(क) जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः।—१-३

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

यत्र सुप्तो न कंचन कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्त-स्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृ-तीयः पादः।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

—माण्डूक्योपनिषत्, १-३-६

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥
विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत॥

—गौडपादकारिका १-१-३

१. प्रकाशित उपनिषद् में (देखिये, गीताप्रेस तथा रामकृष्ण मठ के संस्करण में) 'यो विश्वचक्षु' के स्थान पर 'विश्वतश्चक्षु' पाठ है।

से) भिन्न अथवा अभिन्न कारण मौजूद रहता है, और न किसी कारण को सोचा जा सकता है। तथापि स्वप्न में सब कुछ प्रतीत होता है। अतः यह अर्थापत्ति से सिद्ध होना है कि वही स्वात्मस्वरूप भगवान् विभिन्न प्रमातृ-भाव धारण करके स्वप्न बनकर अपने को ही, प्रकाश की स्वतन्त्रता के कारण, गृह, नगर, अटारी आदि (विभिन्न अधिकरणो) में अनेक प्रमा-ताओं के रूप में अपने को विभाजित करके प्रत्येक प्रमाता के स्वप्न में असाधारण (सर्वसामान्य नहीं अपितु असामान्य) विश्व को प्रकाशित करता है।[1] ब्रह्मवादियों ने उपर्युक्त रीति से स्वप्न में ही (जागरण में नहीं) ब्रह्म के स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है। क्योंकि वेदान्त में यह कहा गया है : 'अपने से अपने को बाँट कर भिन्न-भिन्न पदार्थों की सृष्टि कर सर्वेश्वर एवं सर्वमय स्वप्न में भोक्ता हो जाता है।'

प्रकाश की महिमा ही इस (स्वप्न-सृष्टि) का हेतु है, अतः स्वप्न ब्रह्म की तेजोऽवस्था है तथा 'प्राज्ञ सुप्तावस्था है' सभी प्रमाताओं की जो सुप्तावस्था, सुषुप्ति है वही प्राज्ञ अर्थात् ब्रह्म की प्राज्ञावस्था है। क्योंकि ग्राह्य (प्रमेय) एवं ग्राहक (प्रमाता) के प्रपंच के विलीन हो जाने से सभी प्रमाताओं के लिये सुषुप्त महाशून्यस्वरूप होता है जिसमें ग्राह्यादि के विलय होने पर उनका संस्कार ही शेष रहता है। सुषुप्त में विश्व के बीजभूत ब्रह्म की ही प्रज्ञा रहती है अर्थात् ब्रह्म ही प्रज्ञाता के रूप में अन्यतम शेष रहता है। यह (सुषुप्ति) सभी प्रमाता के लिये नीलसुखादि के रूप में विश्व-वैचित्र्य-प्रकाश की संस्कारभूमि है क्योंकि उससे उठकर प्रमाता का व्यवहार, पहिले अनुभूत की तरह देखा जाता है। अन्यथा यदि इस भूमि में स्थिर प्रज्ञाता के स्वभाव वाला ब्रह्म सभी को अन्तः स्थित करके प्रका-शित न होता तो उस (सुषुप्त अवस्था) से उठनेवाले प्रमाता को पहले अनुभूत वस्तु के सम्बन्ध में 'यह वैसी ही है' यह अनुभूतपूर्व की स्मृति कैसे पैदा होती—और न यह अनुभव भी पैदा होता कि 'मैं सुख से सोया था',

---

१. जागरण और स्वप्न के भेद के संबन्ध में निम्नांकित कारिकाएँ उल्लेखनीय हैं :

मनोमात्रपथेऽध्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥
सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-२-१६-१७

इस पर अभिनवगुप्त की विमर्शिनी भी द्रष्टव्य है।

या 'दुःख से सोया था' या 'मैं गहरे मोह में डूब गया था'[1]। जैसा कि यह **दिवाकरवत्स** ने कहा है :—यदि सभी अनुभूत विषय तुम्हारे आत्मा को देकर (आत्मतत्त्व से एकीकृत कर) अन्तः सुरक्षित न हो जायें तो अनुभूत वस्तु का विलोप न करनेवाली किसी प्रकार की स्मृति ही न पैदा हो सके। अतः सुपुप्त चिन्मय रहकर ही ब्रह्म की प्राज्ञावस्था माना जाता है क्योंकि यह (अवस्था) ज्ञान से घन होती है। सुषुप्त और तुरीय दोनों अवस्थाओं का यह (ज्ञानघनत्व) साधारण हेतु है अतः (कारिका के इस पद की) योजना दोनों से करनी चाहिये। सुषुप्तदशा ज्ञानघना अर्थात् प्रकाशमूर्ति है, वह विश्वप्रलय के संस्कार से मलिन होती है अतः शुद्ध चिन्मय नहीं हो पाती। जैसा कि **स्पन्दशास्त्र** में कहा है :—

"ज्ञान-ज्ञेय-स्वरूपिणी परम शक्ति से युक्त विभु दो अवस्थाओं (जाग्रत् और स्वप्न) में प्रकाशित रहता है, अन्यत्र (दूसरी अवस्थाओं में) तो वह चिन्मय रहता है।" (**स्पन्दकारिका**, १-१८)

और 'इस सुषुप्त से परे है तुरीय'। सारे पाशव संस्कारों के क्षीण हो जाने से शुद्ध तथा पूर्ण आनन्दमय ब्रह्म का चतुर्थ रूप है जो कि उपयुक्त है। यह संज्ञा कुछ सार्थक है क्योंकि जिन तीन अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है उनकी विश्रान्ति इसी में होती है और सभी की आन्तरिक होने से उनमें यह व्याप्त है। चार की संख्या को पूरा करने से यह '[2]तुर्य' (चतुर्थ) है अतः क्रमसूचक प्रत्यय के द्वारा यहाँ संख्या का निर्देश किया गया है। तीनों अवस्थाओं में व्याप्त होने पर भी यह उनसे परे कैसे है ?

---

१. सुषुप्ति का निरूपण करते हुये अभिनवगुप्त ने उसके दो भेद अपवेद्य या शून्य तथा संवेद्य बताये हैं, तथा उसका प्रलयादि तथा जागरण और स्वप्न से भेद भी स्पष्ट किया है। —देखिये ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी, भाग २) पृ० २६५, २६९-२७३, उन्होंने प्रथम तीन अवस्थाओं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति को हेय कहा है क्योंकि इनमें वेद्य का स्फुट या अस्फुट अवभास रहता है तथा उनके संस्कार शेष रहते हैं तथा सुखदुःखादि के अनुभवों से छुटकारा नहीं मिलता :—

सुषुप्तादौ तु संस्काररूपत्वास्फुटवेद्योल्लासस्फुटवेद्यावभासरूपस्य भेदस्य विद्यमानत्वात् अस्ति सुखदुःखादिवैचित्र्यम् इति हेयतैव। —वहीं, पृ० २७६

२. चतुर शब्द में यत् प्रत्यय लगाकर आद्य च का लोप होकर 'तुर्य' और चतुर+छ से आद्यलोप के अनन्तर 'तुरीय' शब्द बनते हैं।

इसका उत्तर है : 'ज्ञानघन होने से'। जाग्रत् आदि सभी अवस्थाएँ भेद-प्रधान होने के कारण प्रमाताओं के लिये अज्ञानमयी हैं पर तुरीय, ग्राह्य-ग्राहक के वैषम्य तथा प्रलय के संस्कार विनष्ट हो जाने से, ज्ञानघन, प्रकाश तथा आनन्द की मूर्ति है, अतः उन तीन अवस्थाओं मे रहने पर भी उनसे चिन्मयता के कारण परे होने से पर अर्थात् भिन्न है। अस्तु, विभिन्न अवस्थाओं वाला, परम अद्वय स्वभाव का स्वतन्त्र ब्रह्म ही पूर्ण रहकर प्रकट रहता है ॥ ३५ ॥

शुद्ध परमात्मा सभी प्रमाताओं में व्याप्त होकर विद्यमान है तब तो अवश्य ही प्रमातृसमुदाय में रहनेवाले मालिन्य को प्राप्त करता है, इसका खण्डन दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत करते हैं :—

जलधर-धूम-रजोभिर्मलिनीक्रियते यथा न गगनतलम् ।
तद्वन्मायाविकृतिभिरपरामृष्टः परः पुरुषः ॥ ३६ ॥

कारिकार्थ—**जैसे मेघ, धूम और धूल आकाशतल को मलिन नहीं बना पाते उसी प्रकार माया के विकारों से परम पुरुष अछूता रहता है**[1] ॥ ३६ ॥

विवृत्यर्थ—जैसे मेघ, धूम और धूलि पुंजों के आकाश में रहने पर भी उनके द्वारा स्वभावतः निर्मल आकाश-पृष्ठ को मलिन नहीं बनाया जा सकता और न उसकी नित्यता और विस्तार (व्यापकता) को खण्डित

---

१. तुलना के लिये ब्रह्मसूत्र 'न तु दृष्टान्तभावात् ।' —२-१-९ द्रष्टव्य है तथा इसका शांकरभाष्य उल्लेखनीय है :—

सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपि गच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति । तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावच-मध्यप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपि गच्छन्तो न तम् आत्मीयेन धार्मेण संसृजन्ति । रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । × × × अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् । एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते इति । यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न् संस्पृश्यते इति, प्रबोधसंप्रसाद-योरनन्वागतत्वात् । एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते ।

—शांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० १९०-९१

किया जा सकता है। विभिन्न अवस्थाओं से चित्रित गगन, दर्पण में प्रतिबिम्बों की भाँति गगन ही बना रहता है क्योंकि उसे सदा उसी रूप में पहिचाना जाता है। उसी प्रकार माया के विकारों' अर्थात् अख्याति से उत्पन्न विकृतियों से, जो अनेक प्रमाताओं में विद्यमान रहती हैं तथा जिनकी जन्म, मरण, आदि अनेक अवस्थायें हैं, तथा जो भगवान् में ही स्थित रहती हैं, भगवान् के स्वरूप का अपहार नहीं होता क्योंकि वही 'परम पुरुष' है। अतः सभी पुरुषों, जीवों का प्रथम उन्मेष का और विश्रान्ति का स्थान है। वह सभी के अनुभविता के रूप में सदा स्फुरित रहता है, यह 'पर' शब्द का अभिप्राय है। अस्तु अपने से उत्पन्न अप्रकाशस्वरूप माया-विकारों से मायावी के समान भगवान् का कुछ नहीं बिगड़ता। - यह परमेष्ठी (आचार्य उत्पल) ने **'अजडप्रमातृसिद्धि** (ग्रन्थ) में भी कहा है :-

"यद्यपि प्राण और पुर्यष्टक से बंधे जीव में पदार्थों की सत्ता अवरुद्ध हो जाती है पर उस परमात्मा में वह (पदार्थसत्ता) सदा बनी रहती है। प्राण उसी का स्वरूप है फिर भला उससे (परमात्मा का) बन्धन कैसे होगा ?" ॥ ३६ ॥

यद्यपि मनुष्यों का परम सत्य एक शुद्धचैतन्य है पर फिर भी वे विभिन्न सुख-दुःख, मोह, जन्म-मरण आदि की अनेक विचित्र अवस्थाओं को भोगते हैं, यह कैसे होता है ? यह दृष्टान्त से बताते हैं :—

एकस्मिन् घटगगने रजसा व्याप्ते भवन्ति नान्यानि ।
मलिनानि तद्वदेते जीवाः सुख-दुःखभेदजुषः ॥ ३७ ॥

कारिकार्थ—**एक घटाकाश के धूल से व्याप्त होने पर दूसरे (घटाकाश) मलिन नहीं होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःख के भेदों को भोगने वाले जीव ॥ ३७ ॥**

विवृत्यर्थ—जैसे एक घटाकाश धूलिपुंज से आच्छादित होने पर भी दूसरे विमल घटाकाश, आकाश से अभिन्न होने पर भी, धूल से मलिन या आच्छादित नहीं होते हैं। यद्यपि आकाश विमल, व्यापक तथा नित्य है पर वह घट के संकोच से संकुचित (सीमित) हो जाता है, पर (आकाश) वैसा उसी घट (विशेष) को लेकर ही होता है। सभी घटाकाश, पटाकाश आदि जो चन्दन की सुगन्धि से धूपित, कस्तूरी से सुवासित या विठिर

(सौंधे ?) गन्ध वाले[1] हों एक आकाश के स्वरूप के होने से, परस्पर संकुल नहीं हो जाते, क्योंकि अपने में विद्यमान घटादि के द्वारा किया गया विभाग बना रहता है।[2] अपितु एक और पारमार्थिक आकाश के रहने पर भी घटादि स्वगत आधारों की सीमा से सीमित होकर आकाश की अनेक भंगिमाओं को प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार घट द्वारा उत्पादित संकोच ही आकाश के उस रूप में (अर्थात् घटाकाशतया) बना रहता है क्योंकि उसी रूप में उसकी अर्थक्रियाकारिता[3] है। पर घट में जो कुछ मालिन्य आदि होता है वह आकाश के स्वरूप को नहीं छिपा पाता और न घटादि से अवच्छिन्न आकाश आपस में संकीर्ण ही होते हैं। उसी प्रकार से पुरुष

---

१. मूल में 'विठिरगन्धीनि' पाठ है। 'विठिर' शब्द का अर्थ किसी कोष में प्राप्त नहीं हो सका है। क्या 'विठिर' का अर्थ सोंधा हो सकता है?—पर कैसे? शायद घड़े की गन्ध सोंधी होती है, इस आधार पर। वैसे और कोई उपाय अर्थ को स्थिर करने का प्रतीत नहीं होता। नहीं तो 'विठिर' को 'विविध' का वाचक माना जा सकता है। संपादक ने इस पद का पाठान्तर 'विविध-गन्धीनि' दिया भी है।

२. घटाकाश पटाकाश आदि अपने परमार्थ आकाशस्वरूप को नहीं छोड़ते साथ ही वे अपना निजी भेद या वैशिष्ट्य बनाये रखते हैं और एक का वैशिष्ट्य या भेद दूसरे से संकीर्ण भी नहीं होता।

३. बौद्ध दार्शनिक के अनुसार किसी पदार्थ के सत् या भावरूप होने का अर्थ है उसका 'अर्थक्रियाकारी' होना अर्थात् किसी कार्य को कर सकना। बीज अंकुर को उत्पन्न करता है अतः बीज अर्थक्रियाकारी है। जिस क्षण बीज अंकुर को उत्पन्न करता है वही उसकी भावरूपता या सत्ता का क्षण है। अतः बौद्ध क्षणिकत्व सत्त्व (सत्ता) और अर्थक्रियाकारित्व की व्याप्ति मानते हैं। जो 'भाव' (सत्) होता है वह क्षणिक होता है, तथा जो सत् है वह अर्थक्रिया-कारी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जिस क्षण अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है उसी क्षण उसकी सत्ता होती है, आगे और पीछे नहीं। बौद्ध दार्शनिक के 'अर्थक्रियाकारिता सत्ता' है इस सिद्धान्त को शैव दार्शनिकों ने केवल प्रमेय के सन्दर्भ में सीमित अर्थ में स्वीकार किया है। उसके अनुसार प्रमेय की सत्ता का ज्ञान अर्थ क्रियाकारिता से होता है और वह क्षणिक भी है। किन्तु प्रमाता को वह नित्य कर्ता एवं ज्ञाता सिद्ध करता है। प्रमेय को क्षणिक एवं अर्थक्रियाकारी मानने पर भी प्रमेय की उत्पत्ति, स्वरूप एवं लय की दृष्टि से शैवदार्शनिकों का बौद्धों से पूर्ण मतभेद है।

या जीव भी, जिनका परमार्थ एक शुद्धचैतन्य है तथा जो परमेश्वर की माया शक्ति के द्वारा आणव, मायीय और कार्म (प्राकृत) तीन कोशों के आवरण से पूर्ण, व्यापक और चिदानन्दमय स्वरूप को हटाकर परिमित बना दिये जाते हैं, एक चैतन्यरूप रहते हुये भी अपने में विद्यमान तीन कोशों के विभाग की क्रूरता के कारण परस्पर भिन्न रहते हैं जैसे कि घटाकाश आदि। इस प्रकार मायीय कोश द्वारा किया हुआ विभाग ही जीवरूप में व्यवहृत हाता है, वस्तुतः सनातन चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप परमेश्वर के सम्बन्ध में दूसरे दर्शनों में किया जाने वाला जीव, पुरुष, आत्मा तथा अणु आदि किसी प्रकार का व्यवहार संगत नही है। इसी प्रकार आणवादि कचुकों से युक्त जीव अनादि विचित्र कर्ममलों के संस्कारों से युक्त नाना देहवाले, विविध वासना वाले, विभिन्न पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों के भेद से युक्त होते हुये भी परस्पर संकीर्ण नहीं होते (अर्थात्-प्रत्येक जीव के अपनी देह, कर्मादि होते हैं), जैसे कि अनेक पदार्थों से सुवासित घटादि से अवच्छिन्न घटाकाश (भिन्न रहते हैं, परस्पर संकुल नहीं होते)। अस्तु, यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया कि एक शुद्ध चैतन्य परमार्थ वाले होने पर भी अपने विभाग के कारण (जीव) परस्पर भेद वाले होते हैं' ॥ ३७ ॥

इस तरह जीवसमूह की जो भिन्न अवस्थाएँ हैं उनका केवल ईश्वर में उपचार है, परमार्थतः वे (उस ईश्वर में) नहीं होती हैं, यह बताते हैं:-

शान्ते शान्त इवायं हृष्टे हृष्टो विमोहवति मूढः ।
तत्त्वगणे सति भगवान् न पुनः परमार्थतः स तथा ॥३८॥

कारिकार्थ—**तत्त्व समूह के शान्त होने पर यह ईश्वर शान्त-सा, प्रसन्न होने पर प्रसन्न-सा, मोह भरा होने पर मोही-सा (दिखता) है पर वह वस्तुतः वैसा नहीं होता है ॥ ३८ ॥**

विवृत्यर्थ- तत्त्वसमूह अर्थात् इन्द्रिय समुदाय के शान्त या उपरत होने पर उनमें विद्यमान परमात्मा शान्त या नष्ट-सा मालूम पड़ता है। इसी तरह उस (इन्द्रिय-समुदाय) के हर्षित होने पर वह उसी प्रकार का माना जाता है और अत्यन्त तमोमय मूढ़ में मोही (माना जाता है) जैसे कि स्थावर (अचल) पेड़ पौधा आदि की योनि में। पर परमार्थतः या वस्तुतः वह परमेश्वर वैसा, उस प्रकार का, होता नहीं है। जितने भी जड़ अंश हैं वे उत्पाद्य तथा संहार्य होते हैं पर नित्य बोधस्वरूप ईश्वर का

मायादि कंचुकों में रहने पर भी, विनाश और उत्पत्ति नहीं हो सकती। अस्तु, ईश्वर सदा एकतार रहता है ॥ ३८ ॥

उत्पत्ति के आधार से आई हुई क्रान्ति ज्ञान के क्रम से पूरी तौर से उखाड़ दी जाती है, यह आत्मा का ही स्वातन्त्र्य है, यह बताते हैं :—

यदनात्मन्यपि तद्रूपावभासनं तत् पुरा निराकृत्य ।
आत्मन्यनात्मरूपां भ्रान्तिं विदलयति परमात्मा ॥ ३९ ॥

कारिकार्थ—**यह जो अनात्मा में उसके रूप का प्रकाशन है उसे पहिले हटाकर, परमात्मा में अनात्मरूपा भ्रान्ति को चूर-चूर कर देता है ॥ ३९ ॥**

विवृत्यर्थ — अनात्मा अर्थात् अचेतन स्वरूप देहादि में 'मैं कृश हूँ, स्थूल हूँ' के रूप में उसके रूप का प्रकाशन अर्थात् अनात्मा को आत्मा के रूप में जानना है, वह सबसे पहिले हटाकर अर्थात् 'मैं चिदानन्दैकघन, सनातन-स्वभाव तथा स्वतन्त्र हूँ' इस प्रकार की सहज अहन्ता की स्फूर्ति से देहादि में कृत्रिम प्रमातृभाव को हटाकर, आत्मा देह के बन्धन से मुक्त होकर परमात्मभाव को पा लेती है और आत्मा, जो प्रकाशमान, विश्वात्मा, प्रकाशवपु, तथा अंगभूत है मैं देहादि को प्रमाता मानने से भ्रान्ति अर्थात् भेद का जो ज्ञान होता उसे (आत्मा ही) 'मैं एक ही हूँ तथा विश्व के रूप में प्रकाशमान हूँ,' इस रूप में चूर-चूर कर देती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक अनात्मा देहादि में आत्मा का अभिमान नहीं गलता है तब तक विश्व के आत्मप्रकाश-स्वरूप होने पर भी भेदज्ञान का मोह नष्ट नहीं होता, अतः अनात्मा में आत्माभिमान के भ्रम के खत्म होने पर आत्मा मैं अनात्मा के अभिमान की भ्रान्ति भी परमात्मा भगवान्, स्वात्मा महेश्वर, ही विनष्ट करता है और किसी को विनाश करने की क्षमता नहीं है ॥ ३९ ॥

इस तरह दोनों भ्रान्तियों को हटाकर परमेश्वर हो जाने वाले योगी के लिये कुछ भी करने को नहीं बच रहता है, यह बताते हैं :—

इत्थं विभ्रमयुगलकसमूलविच्छेदने कृतार्थस्य ।
कर्तव्यान्तरकलना न जातु परयोगिनो भवति ॥ ४० ॥

कारिकार्थ—**इस प्रकार भ्रान्ति-युग्म को जड़ से उखाड़ देने पर कृतकार्य पूर्ण योगी को दूसरे किसी कर्तव्य का विचार कभी करना ही नहीं पड़ता ॥ ४० ॥**

विवृत्यर्थ—पूर्वकारिका (३९) में प्रतिपादित अभिप्राय के अनुसार दोनों भ्रान्तियों (अनात्मा में आत्मा का अभिमान तथा आत्मा में अनात्मा का अभिमान) के अंकुर रौंद देने पर, अपने स्वातन्त्र्य के बोध से सब संकोचों (सीमाओं) को चूर कर देने के कारण जो योगी कृतार्थ हो जाता है अर्थात् पुरुषार्थ की प्राप्ति कर लेता है उस उत्तम योग से युक्त के लिये कभी भी 'कर्तव्यान्तर अर्थात् तीर्थाटन, तीर्थ स्थान का सेवन, दीक्षा, जप, ध्यान, व्याख्यान सुनना (या व्याख्यान तथा श्रवण-कथा करना और सुनना) आदि शेष कार्य को मन से भी नहीं सोचना रहता है।

'यही परम धर्म है कि योग से आत्मा का साक्षात्कार कर लेना।'

इस तरह आत्म-योग की प्रधानता है, अतः उसे पाकर पूर्ण योगी को दूसरे में श्रम नहीं करना पड़ता है। जैसा कि **गीता** (२-५२) में कहा है :—

'जब तुम्हारी बुद्धि मोह के दलदल को बिल्कुल पार कर लेगी तब तुम सुनने योग्य और सुने हुये से वैराग्य पा लोगे' ॥ ४० ॥

पृथ्वी से लेकर माया तक का भेदमय विश्व भेदा-भेदमय शक्ति-भूमिका में समावेश के द्वारा पूर्ण प्रकाश, आनन्दघन शांभव पद को पाकर, भेद के विलयन से अभेदमय बनकर, भरे हुये अमृतसागर के समान शांभव पद से महाप्रवाह के समान शक्ति के प्रसार का उद्रेक जिसमे प्रधान है ऐसे विभिन्न तरंगों की भंगियों को धारण कर, आत्मानुभव से सिद्ध महामन्त्र के वीर्य का सारभूत, समस्त भेदों के विनाश से परम हृदय का जिसमें उदय हो जाता है तथा जीव, शक्ति तथा शिव के सामरस्य-स्वरूप परा संवित् के हृदय को क्रमशः उद्घाटित करते हुये, विश्व का, आगमों में बताई अण्डत्रयात्मकता के संकलन द्वारा एकीभाव बताते हैं[1] :—

---

१. पृथिवी से लेकर माया तक का विश्व भेदमय है, उसका समावेश भेदाभेदमयी शाक्त भूमिका में होता है, शाक्त भूमिका का समावेश अभेदमयी शांभव भूमि में होता है। शांभव भूमि भरे हुये सागर के समान है जिसमें शाक्त भूमिका महाप्रवाह की भाँति बहती रहती है और उससे समुद्र तरंगित होता रहता है। शिव और शक्ति दोनों जब समरस हो जाते हैं तो वही परा संवित् का सार या हृदय है। यही शैवदर्शन के अनुसार अन्तिम पूर्ण परम अद्वय की स्थिति है जिसमें सभी भेद, भेदाभेद और अभेद की भूमिकाएँ सर्वात्मना समरस हो जाती हैं। यही उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय है।

पृथिवी प्रकृतिर्माया त्रितयमिदं वेद्यरूपतापतितम् ।
अद्वैतभावनबलाद् भवति हि सन्मात्रपरिशेषम् ॥ ४१ ॥

कारिकार्थ – पृथिवी, प्रकृति और माया वेद्य बने हुये ये तीन अद्वैत की भावना के प्रकर्ष से केवल सद्रूप रह जाते हैं ॥ ४१ ॥

विवृत्यर्थ- पार्थिव, प्राकृत और मायीय अण्डों के रूप में जो स्थूल, सूक्ष्म और पर इस रूप में तीन प्रकार का वेद्य बना हुआ अर्थात् ज्ञान का विषय बना हुआ (विश्व), जैसाकि श्रीकालिकाक्रम में बताया गया है :

'ज्ञान विभिन्न रूपों में बाहर और अन्दर प्रकाशित होता है, ज्ञान के बगैर वस्तु की सत्ता नहीं है अत: विश्व ज्ञानात्मक है। ज्ञान के बिना कोई भी पदार्थों को विषय नहीं बना पाता अत: इससे निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान उस (विषय) के रूप में हो जाता है।' उसके अनुसार, अद्वैत की भावना के बल या प्रकर्ष से 'केवल सद्रूप रह जाता है' अर्थात् प्रकाशमानता ही उसकी एकमात्र सत्ता होती है। (कारिका में) 'हि' 'जिससे' के अर्थ में आया है ॥ ४१ ॥

इसी बात का निरूपण भेद को अवास्तविक प्रतिपादन करने की दृष्टि से करते हैं :—

रशनाकुण्डलकटकं भेदत्यागेन दृश्यते यथा हेम ।
तद्वद्भेदत्यागे सन्मात्रं सर्वमाभाति ॥ ४२ ॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार करधनी, कुण्डल और कड़ा भेद को छोड़ने से सोना दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भेद को छोड़ देने पर सब कुछ सद्रूप प्रतीत होता है ॥ ४२ ॥

विवृत्यर्थ- जैसे सोने की करधनी आदि आभूषण सोना चाहने वाले को करधनी के भेद को छोड़कर केवल सोने के रूप में दिखाई देते हैं, (सोना, चाँदी, कांसा ताँबा और रांगा आदि केवल उसे चाहने वाले को लोह रूप में[1]) उसी प्रकार स्वीकार और परित्याग आदि विकल्प—

---

१. कोष्ठक में रखा हुआ अनुवाद जिस पाठ का है वह अशुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि सोना, चाँदी आदि के लोहरूप में प्रतीत होने का कोई सन्दर्भ ही नहीं है। पाठ यह है :—

'हेमरजतकांस्यताम्रनागादि तावन्मात्रार्थिनो लोहरूपतया' पृ० ९०।

कलंकों को छोड़ देने वाले, विकल्पविहीन, शुद्ध प्रकाश में लीन योगी को, श्रीकल्लट द्वारा बताई युक्ति : 'उसकी सिद्धि रूपादि में परिणाम से होती है' के अनुसार भेद के छूट जाने पर, यह सब (विश्व) शुद्ध सत्तात्मक, सन्मात्र प्रतीत होता है ॥ ४२ ॥

इस सारे संकोच-प्रकाशन को छोड़ देने से, आगम के अनुसार, जीव के स्वरूप को शाक्तस्वरूप की प्राप्ति कराने वाले मन्त्र-सम्प्रदाय की ओर इंगित करते हुये कहते हैं :—

तद्ब्रह्म परं शुद्धं शान्तमभेदात्मकं समं सकलम् ।
अमृतं सत्यं शक्तौ विश्राम्यति भास्वरूपायाम् ॥ ४३ ॥

कारिकार्थ —**वह ब्रह्म परम, शुद्ध, शान्त, अभेदस्वरूप, सम, सकल, अमृत और सत्य है और प्रकाशस्वरूपा शक्ति में विश्रान्त है ॥ ४३ ॥**

विवृत्यर्थ —यह जो सत्तारूप है वह सब 'बहुत' होने से ब्रह्म है[1]। जैसा कि उपनिषद् के जानकारों ने कहा है :

'हे सौम्य यह (जगत्) पहले सत् ही था'। (छान्दोग्य० ६-२-१) वह पूर्ण होने के कारण 'परम' है। हान (परित्याग) और उपादान (ग्रहण) न होने से शुद्ध है। पृथक्ता (विलगाव) समाप्त हो जाने से शान्त है और इसीलिये अभेदात्मक (अद्वय) है। उत्कर्ष और अपकर्ष न होने से सम' है।

'ब्रह्म का एक भाग भी सर्वात्मक, अनतिशायी और विकल्पों से रहित है।'

(उपनिषद्) इस स्थिति के अनुसार 'सकल' है और इसीलिये अमृत या अविनाशी है :

'प्रत्येक पदार्थ में सत्य और असत्य रूप दो भाग पाये जाते हैं, उनमें से जो सत्य है वह जाति है और व्यक्ति असत्य हैं।'

---

१. तुलना कीजिए :—

अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्-ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ।

—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० ६

'जो प्रारम्भ में और जो मध्य में रहे वह सत्य है।' परमपूज्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित इस नीति के अनुसार वह ब्रह्म सत्य है अर्थात् शुद्ध सत्तास्वरूप है। यह सब प्रकाशस्वरूपा अर्थात् इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों की सामरस्यमयी परमशक्ति में विश्रान्त होता है, अर्थात्

'विषयों की स्थिति संवित् में रहती है' इसके अनुसार (उस परम शक्ति में) तन्मय हो जाता है।

अथच (मन्त्रसंप्रदाय के अनुसार दूसरी व्याख्या) :—

जो 'शान्त' अर्थात् 'श' के अन्त में मूर्धन्यरूप है, उससे परे जो 'अमृत' अमृतबीजस्वरूप है, जो 'ब्रह्म' शुद्ध सद्रूप है जो सदाशिव तत्त्व के स्पर्श के कारण 'शुद्ध' है। अतएव (जिसका अनुभव है कि) 'मैं यह सब हूँ। जो सभी के सामरस्य के कारण 'सम' एवं 'सकल' है। तथा इस कारण अख्याति (भ्रान्ति) के गल जाने से जो 'सत्य' है। जैसाकि भगवान् का श्रीत्रिशिका में वचन (आदेश) है :

'हे सुन्दर नितम्बों वाली, तृतीय ब्रह्म है।' अस्तु, अमृतभाव से युक्त सदाशिव पद पर आरूढ़ विश्वात्मक यह ब्रह्म पूर्ववर्णित शक्ति में विश्राम ग्रहण करता है[1] ॥ ४३ ॥

क्रिया, ज्ञान और इच्छा के माध्यम से जो परम शक्ति में विश्रान्त नहीं होता वह कुछ है ही नहीं, यह बताते हैं :—

इष्यत इति वेद्यत इति संपाद्यत इति च भास्वरूपेण ।
अपरामृष्टं यदपि तु नभः प्रसूनत्वमभ्येति ॥ ४४ ॥

कारिकार्थ—**'चाह होती है', 'जाना जाता है', 'किया जाता है', इस प्रकार के प्रकाश के स्वरूप से (इच्छा-ज्ञान-क्रिया के सामरस्य रूप) जो अछूता है, वह आकाशकुसुम के समान है ॥ ४४ ॥**

विवृत्यर्थ--जो वस्तु वस्तुतः बाहर विद्यमान है पर यदि वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्वारा प्रकाशमान से अर्थात् इन तीन (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) शक्तियों की सामरस्यमयी परा शक्ति की अभिवृद्धि-स्वरूप संवित् से अछूती

---

१. उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि वेदान्तनिरूपित शुद्ध सद्रूप ब्रह्म 'सदाशिव' के तुल्य है। यह ब्रह्म शक्ति में विश्रान्त है।

है वह ज्ञान और अभिधान[1] से विहीन है अतः आकाशकुसुम के समान है। इससे सद्वृत्ति, ऊर्ध्ववर्ति त्रिशूलात्मक-वृत्ति वीर्य सूचित होता है।[2] ॥४४॥

इस शाक्त पद में इसका समावेश बताकर शांभव पद में समापत्ति द्वारा तन्मयीभाव को प्रकाशित करते हैं :--

शक्तित्रिशूलपरिगमयोगेन समस्तमपि परमेशे।
शिवनामनि परमार्थे विसृज्यते देवदेवेन ॥ ४५ ॥

कारिकार्थ--**शक्ति-त्रिशूल के साथ समापत्ति के द्वारा, देवों के देव सब का विसर्जन परमेश्वर शिव नामक परमार्थ में कर देते हैं ॥ ४५ ॥**

विवृत्यर्थ--इस प्रकार सब का अर्थात् शुद्ध सत्तास्वरूप होने से पहले बताये हुये ब्रह्मरूप परमार्थ का 'शक्ति-त्रिशूल के साथ समापत्ति के द्वारा' अर्थात् परा शक्ति में समावेश के क्रम से 'शिवनामक परमार्थ में' अर्थात् उपाधिहीन चित् और आनन्दमय परमेश्वर या स्वस्वभाव में 'विसर्जन कर देते हैं' अर्थात् अन्तर्मुख विमर्श के प्रकर्ष से उस (स्वस्वभावात्मक परमार्थ में) समावेश से तन्मयता हो जाती है। 'देवों के देव' अर्थात् ब्रह्मा से लेकर सदाशिव तक के देवताओं के तथा सभी को प्रकाशित करने वाली इंद्रियों

---

१. परमार्थसार के संपादक जगदीशचन्द्र चटर्जी ने प्रख्या तथा उपाख्या (ज्ञान और अभिधान) के निम्नांकित अर्थ प्रस्तुत किये हैं :—

प्रख्या ज्ञानम्, उपाख्या अभिवदनम् अथवा स्वात्मनो ज्ञानविषयीभावप्राप्तीच्छा प्रख्या, परस्य ज्ञानविषयीभावप्रापणेच्छा उपाख्या स्वात्मपरावभासविषयभावजिगमिषेत्यर्थः।

—परमार्थसार (काश्मीर संस्करण), टिप्पणी ८, पृ० ९४

२. इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया इन तीन शक्तियों को त्रिशूल कहा जाता है। वस्तु के सत्त्व की ख्याति इन्हीं तीन शक्तियों से संबन्ध के कारण होती है। जिस वस्तु का इन तीन शक्तियों से संबन्ध नहीं होता अर्थात् जिसकी इच्छा, ज्ञान, या संपादन नहीं होता वह वस्तु आकाश कुसुम के समान अवस्तु है। पहले शक्ति-त्रिशूल में समावेश होता है जिसे शाक्त समावेश कहते हैं। वस्तुतः शक्ति-त्रिशूल का सामरस्य परा शक्ति है। इस परा शक्ति में एकात्मता शाक्त समावेश है। इसके अनन्तर परा शक्ति भी शिव के साथ तन्मय हो जाती है। यह शांभव समावेश है। विश्व शुद्ध सद्रूप ब्रह्म से एकाकार होता है, तदनन्तर परा शक्ति से और अन्ततः परमशिव से।

के देव अर्थात् प्रभु परम शिव। इस दर्शन में और किसी का कर्तृत्व संगत नहीं माना जाता, और न इस (परम शिव) से भिन्न कोई प्रमाता है। यही ईश्वर विभिन्न भूमिकाओं पर चढ़ता हुआ रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि प्रमाताओं के रूप में प्रकाशमान रहता है अतः उसे 'देवों का देव' कहना उचित है। इस प्रकार विसर्ग[1] की क्रिया बतलाई ॥ ४५ ॥

अभीतक भेदात्मक जीवस्वरूप विश्व के भेदाभेदात्मक शाक्त पद पर चढ़ने से, अभिन्न, चिद्घन शिव के साथ सामरस्य की प्राप्ति उपसंहार की दृष्टि से बताकर अब चिदेकघन शिव ही शक्ति के रूप में अपने को उन्मिषित कर जीवात्मक विश्व के रूप में स्फुरण करते हैं, शिव से भिन्न शक्ति और नर का कोई भी स्वरूप नहीं है, शिव ही इस रूप में अपने रस की घनता के कारण स्फुरण करते हैं, इस महामन्त्रमय प्रसार के तरीके को प्रतिपादित करते हैं :—

पुनरपि च पञ्चशक्तिप्रसरणक्रमेण बहिरपि तत्।
अण्डत्रयं विचित्रं सृष्टं बहिरात्मलाभेन ॥ ४६ ॥

कारिकार्थ—और फिर, (**परम शिव**) **पाँच शक्तियों के प्रसार के रास्ते से इस विचित्र अण्डत्रय (तीन अण्डों) की बाह्य सृष्टि, अपने स्वरूप को बाहर पाने के लिये, करते हैं** ॥ ४६ ॥

विवृत्यर्थ—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नाम की जो पाँच शक्तियाँ हैं उन्हीं का सामरस्य परमशिव का स्वरूप है। उसी ने चित् आदि (पाँच) शक्तियों की प्रधानता को (क्रमशः) प्रकाशित करनेवाले शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा सद्विद्या नामक पाँच अवस्थाओं का उन्मीलन करते हुये, भुवनादिरूप 'तीन विचित्र अंडों' की सृष्टि अपना स्वरूप बाह्य प्रकाश के रूप में प्रदर्शन करने के लिये की है। 'और फिर' के द्वारा यह बताया गया है कि स्वतन्त्र परमशिव ही सदा अपनी भित्ति (आधार) पर विश्वप्रपंच की सृष्टि और संहार के खेल को, जो उससे भिन्न न होते हुये भी भिन्न-सा है, प्रतिबिंबित करता हुआ रहता है, उससे भिन्न तो कुछ है ही नहीं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार विश्व की सृष्टि और संहार की क्रीडा में निरत परमेश्वर जिसे 'शिव' कहा जाता है, वह कौन है, कहाँ रहता है तथा किस प्रमाण से जाना जाता है ? यह शंका उठाते हुये अस्मत् शब्द के

---

१. सभी का पराशक्ति में और उसका परमशिव में समावेश, एकीभाव, समापत्ति, तन्मयीभाव ही 'विसर्ग' है।

वाचक शब्दों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है कि सभी का स्वात्मभूत शिव ही सर्वत्र आदिसिद्ध के रूप में प्रकाशमान होकर सृष्टि आदि करता है :—

इति शक्तिचक्रयन्त्रं क्रीडायोगेन वाहयन्देवः ।
अहमेव शुद्धरूपः शक्तिमहाचक्रनायकपदस्थः ॥ ४७ ॥
मय्येव भाति विश्वं दर्पण इव निर्मले घटादीनि ।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात् ॥ ४८ ॥
अहमेव विश्वरूपः करचरणादिस्वभाव इव देहः ।
सर्वस्मिन्नहमेव स्फुरामि भावेषु भास्वरूपमिव ॥ ४९ ॥
द्रष्टा श्रोता घ्राता देहेन्द्रियवर्जितोऽप्यकर्तापि ।
सिद्धान्तागमतर्कांश्चित्रानहमेव रचयामि ॥ ५० ॥

कारिकार्थ—इस तरह शक्ति-समुदाय के यन्त्र को खेल के द्वारा चलाता हुआ 'अहं' ही शुद्ध, देव है जो शक्ति के महाचक्र में नायक पद पर स्थित है ॥ ४७ ॥

मुझ में ही सारा विश्व प्रकाशित होता है जैसे कि निर्मल दर्पण में घटादि। मुझसे ही सब कुछ फैलता है जैसे कि सोते हुये (व्यक्ति) से स्वप्न की विविधता ॥ ४८ ॥

मैं ही विश्वरूप हूँ जैसेकि हाथ, पैर आदि के रूप में शरीर होता है। सभी में मैं ही स्फुरण करता हूँ जैसेकि प्रकाश का स्वरूप भावों (वस्तुओं) में ॥ ४९ ॥

शरीर एवं इन्द्रियों से रहित होकर भी मैं ही देखनेवाला, सुननेवाला और सूंघनेवाला हूँ। कर्ता न होने पर[1] भी मैं ही सिद्धान्तों, आगमों और तर्कों की रचना करता हूं ॥ ५० ॥

---

१. संपादक द्वारा दिये हुये पाठान्तर 'देहेन्द्रियवर्जितोऽपि पश्यामि' को स्वीकार कर लें तो इस अंश का अनुवाद होगा: 'देह और इन्द्रियों से रहित होकर भी देखता हूं।'

टीकाकार ने 'पश्यामि' प्रतीक का, पर साथ ही 'अकर्तापि' दोनोंका ही ग्रहण किया है। यह भाव श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्राचीन मन्त्र 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' के अनुकूल पड़ेगा। इस मन्त्र का उल्लेख विवृतिकार ने अपनी व्याख्या में किया है।

विवृत्यर्थ – जैसाकि पहले व्याख्या की जा चुकी है, चित् आनन्द आदि पाँच शक्तियों से आक्षिप्त जो शक्तियों का अनन्त समूह है वही यन्त्र है जिसे खेल के द्वारा चलानेवाला अर्थात् रहट की तरह सृष्टि आदि को खेल की तरह डुबोने और उतराने वाला (सृष्टि और संहार को क्रमशः करने वाला) 'मैं ही देव हूं' अर्थात् सभी प्राणियों में 'अहम्' का जो अनाहत नाद स्वरूप आत्मपरामर्श है, जिसका सार परम अहन्ता का चमत्कार है, वही सभी का अगोप्य (अप्रतिषेध्य) आत्मा ही देव है जो क्रीड़ाशील होकर प्रकाशमान है। इससे यह प्रतिपादित होता है कि अपने स्वरूप (पूर्ण अहम्) में विश्रान्ति ही शिव है। और वह शुद्धरूप है अर्थात् कल्पनाओं से परे है। साथ ही, वह शक्तियों--इन्द्रियो की (अधिष्ठातृ) देवताओं--को स्वातन्त्र्य प्रदान करने वाले 'महाचक्र-नायक पद' में स्थित है। चूँकि इन्द्रिशक्तियों की चैतन्य में विश्रान्ति के अतिरिक्त स्वरूपसत्ता ही नहीं है अतः वे (इन्द्रियाँ) स्वरूपलाभ के लिये शक्तिमान् की सदा सेवा करती हैं। ईश्वर सभी प्रमाताओं के हृदयों में अधिष्ठित है, अतः वह नियत भुवन का अधिष्ठाता है, यह खण्डित हो जाता है।

जो कुछ भी विश्व के रूप में माना जाता है वह सब 'दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान 'मुझ में ही प्रकाशित होता है'– पूर्व व्याख्यात अहमर्थ में विश्रान्त होकर ही (विश्व) प्रकाशित होता है, उसका सार अहन्ता ही है। तथा 'मुझसे' अर्थात् पूर्ण अहं रूप आत्मा से 'सारा यह विश्व फैलता है'--प्रमाता की दृष्टि से अलग हटकर प्रकाशित होता है। कैसे ? जैसेकि 'सोते हुये से स्वप्न की विविधता'--जैसे निद्रा में डूबे प्रमाता की स्वप्नावस्था में बाह्य पदार्थों का अभाव होने पर भी नगर, चहारदीवारी, मन्दिर आदि अनेक आश्चर्यवाले स्वाप्निक पदार्थों की विविधता, अविद्या आदि के द्वारा परिकल्पित किसी दूसरे कारण के न रहने से अपने चैतन्य को उपादान बनाकर ही, विस्तार पाती है उसी प्रकार, दूसरे दर्शनों द्वारा नियमित किसी दूसरे कारण के युक्तियुक्त न होने से निरुपाधिक, चिदानन्दैकघन अहं से ही विश्व (विस्तार पाता है)।

तथा 'मैं ही विश्वरूप हूं' इत्यादि। अहं के रूप में जो पूर्ण चैतन्य का विमर्श वही मैं नाना देहादि में प्रमाता बनकर विश्वरूप हो जाता हूं--ग्वाल-बाल, स्त्रियों आदि के भीतर अभिन्न होकर प्रकाशित रहने से

विश्व मेरा ही रूप है। किसकी तरह ? हाथ, पैर आदि से स्वरूप वाले देह की तरह।--जैसेकि सामान्यतः सभी की एक देह, हाथ, पैर आदि की होकर भी, प्रत्येक प्रमाता की अपने-अपने रूप में होने से, अनेकरूप होती है उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप एक पदार्थ सभी का निवास होने से विश्वरूप है। तथा 'सभी में' अर्थात् प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता के स्वरूप वाले इस (विश्व) में 'मैं' ही स्फुरण करता हूँ क्योंकि सभी के आत्मरूप अनुभविता के रूप में मैं प्रकाशमान हूं। कैसे ? 'जैसेकि प्रकाश का स्वरूप भावों में'।--जैसे अनेक वस्तुओं में अत्यन्त प्रकाशवाली वस्तु प्रकाशित रहती है उसी प्रकार इस जड़ जगत् में एक चैतन्यरूप मैं (प्रकाशित हूं)।

अतएव 'देखनेवाला' आदि। देहेन्द्रियों से रहित होने पर भी चिन्मूर्ति होने के कारण मैं ही देखता हूँ, सुनता हूँ, सूंघता हूँ, आस्वाद लेता हूँ, छूता हूँ। इस प्रकार सर्वत्र पूर्ण अहंता में विश्रान्ति से ही कृतकार्यता है। देह, इन्द्रियों का समुदाय 'देखता हू' ऐसा मानते हैं पर स्वप्न आदि की अवस्थाओं में ये द्रष्टा नहीं होते हैं। अतः देह, इन्द्रियादि के समुदाय की सृष्टि करनेवाला, इनसे रहित होने पर भी चित् और आनन्द से युक्त, सारे प्राणियों के हृदय के मध्य विचरण करनेवाला, विषयों का उपभोग करने वाला, 'अस्मत्' शब्द से कहा जानेवाला, परम पुरुष ही (द्रष्टा आदि) है। जैसी कि श्रुति है :[1]—

'वह हाथ-पाँव से रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, आँखों से रहित होकर भी देखता है और कानों से रहित होकर भी सुनता है वह प्रमेय (विषय) को जानता है पर उसे जाननेवाला कोई (दूसरा) नहीं है। उस पुरुष को प्रथम और महान् कहा गया है।'--**श्वेताश्वतर उपनिषद्**--(३।१९) तथा 'कर्ता न होने पर भी सिद्धान्त, आगम आदि' का अर्थ है कि स्वयं विधाता न होने पर भी देव, ऋषि, मनुष्य आदि के चिन्तन में स्थित अंतःप्रतिभा के रूप में, संक्षेप और

---

१. इस सन्दर्भ में **बृहदारण्यक** उपनिषद् भी उल्लेखनीय है :—
न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्। ३-४-२
तथा—तद् वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ। एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च।—वही, ३-७-११

विस्तार से कहने की इच्छा के अनुसार, सिद्धांत आदि के अनेक आश्चर्यों का निर्माण करता हूँ[1]। क्योंकि लोंदे के समान जड़ देह, इन्द्रिय के द्वारा उनका निर्माण संभव नहीं है। अतः विभिन्न व्यवधानों (माध्यमों), के द्वारा मैं ही सभी प्रमाणों का बनानेवाला हूँ। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्ण अहंतास्वरूप आत्ममहेश्वर की सत्ता में (अर्थात्, सत्ता की सिद्धि के लिये प्रमाणों की न तो संगति है और न उपयोग)। इस प्रकार जिसे छुपाया नहीं जा सकता है ऐसा मैं अनुभविता के रूप में सभी का आत्म-स्वरूप शिव सर्वत्र विद्यमान हूँ। सभी प्रमाणों में प्रथमतः सिद्ध हूँ॥ ४७-५०॥

इस प्रकार व्याख्यात पद्धति के अनुसार 'यह सब मेरा वैभव है' इस (भावना) को दृढ़ करते हुये अपनी आत्मा के परामर्श द्वारा योगी परब्रह्म-स्वरूप हो जाता है, यह बताते हैं :—

---

१. तुलना कीजिए :—

शास्त्रयोनित्वात्। —ब्रह्मसूत्र १-१-३

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्था-वद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि-लक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति × × × अथवा यथोक्त-मृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः।

—वहीं, शांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० ९-१०

२. परम तत्त्व प्रमाणगम्य नहीं है, इस संबन्ध में निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका १-१-१

इह क ईश्वरे कीदृशे कीदृशेन प्रमाणेन अस्ति इति ज्ञानलक्षणां सिद्धिं, नास्तीति ज्ञानलक्षणं वा निषेधं कुर्यात् ?—वहीं, विमर्शिनी।

(ख) सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।—वहीं पृ० ६।

(ग) येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४-५-१५

इत्थं द्वैतविकल्पे गलिते प्रविलङ्घ्य मोहनीं मायाम् ।
सलिले सलिलं क्षीरे क्षीरमिव ब्रह्मणि लयी स्यात् ॥ ५१ ॥

कारिकार्थ—इस तरह द्वैत-विकल्प के गल जाने पर, मोहित करने वाली माया को पार करके, पानी में पानी और दूध में दूध की तरह योगी ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥ ५१ ॥

विवृत्यर्थ—इस तरीके से सभी को अहं समझने की युक्ति से 'द्वैतविकल्प के गल जाने पर' अर्थात् भेद-विज्ञान के विलीन हो जाने पर 'मोहित करनेवाली माया को पार कर' अर्थात् अनात्मा में आत्मा का अभिमान करानेवाली (भ्रान्ति) भेदज्ञान की बीज अख्याति को 'मैं ही विश्वात्मा हूं' (यह सोचकर) संकोच को हटाते हुये, दूर कर ज्ञानी ब्रह्म में बृंहण रूप, पूर्ण, चिदानन्दैकघन स्वरूप में 'लीन हो जाता है' अर्थात् संकोच के विलीन हो जाने से ब्रह्म से तादात्म्य पा लेता है। 'किस तरह'? 'जैसे कि पानी में'—जिस तरह कि अनेकों घड़ों से (तालाब आदि से) निकाला हुआ पानी अथवा विविध चितकबरी और बाहुलेय[1] आदि सैकड़ों गौओं के भेद से भिन्न दूध घड़े और चितकबरेपन आदि के द्वारा किये हुये भेदरूप—संकोच को खत्म कर देने से पानी में दूध-दूध एक ही वस्तु मालूम देती है, उसमें भेद नहीं दिखाई पड़ता। उसी प्रकार देह, प्राण, पुर्यष्टक और शून्य का विचार समाप्त होने से ब्रह्म ही रह जाता है। जैसाकि **भट्ट दिवाकर वत्स** ने कक्ष्यास्तोत्र में कहा है :—

'शरीर के ज्ञान का द्वीप जब भंग हो जाता है, निर्मल ज्ञानसमुद्र ऐकान्तिक हो जाता है तो इन्द्रियसमूह को भीतर की ओर उन्मुखकर एक सनातन विश्वात्मा प्रकाशमान रहते हो' ॥ ५१ ॥

इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता पर आरूढ योगी को द्वन्द्व का अभिभव भी ब्रह्ममय होता है अतः स्वरूप की हानि नहीं होती, यह बताते हैं :—

इत्थं तत्त्वसमूहे भावनया शिवमयत्वमभियाते ।
कः शोकः को मोहः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः ॥ ५२ ॥

---

१. बाहुलेय—तरह-तरह की (?) या अधिक दूध देने वाली (?) या भूरी (?)

कारिकार्थ—**इस प्रकार भावनाद्वारा, तत्त्वसमूह के शिवमयता पा लेने पर सब कुछ को ब्रह्म देखनेवाले को क्या शोक और क्या मोह?**[1] ॥ ५२ ॥

विवृत्यर्थ--इस प्रकार निर्णीत मार्ग से जिस योगी के कंचुकरूप बंधन छूट गये हैं उसकी तत्त्वसमूह अर्थात् भूतों, विषयों तथा इंद्रियों के समूह में भावना के द्वारा, यह सब एक है इस आत्म चैतन्य के दृढ़ विमर्श से, शिवमयता, परम अद्वयपदता, को पा लेने पर[2] शोक और मोह से ध्वनित द्वन्द्वों के अभिभव, यह सब तत्त्वसमूह ब्रह्म है यह देखनेवाले के लिये नगण्य हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्ममय होने के कारण वे सब उसके स्वरूप ही हैं, अत: वे दु:ख नहीं पहुँचा पाते ॥ ५२ ॥

शंका की जा सकती है (ननु) कि पूर्ण अद्वयरूप होने पर भी ज्ञानी का शरीर अवश्य बना रहता है तो उसके कारण होनेवाले अच्छे और बुरे कर्मों के फलों का संचय क्यों कर न होगा ?— इसका परिहार है :—

कर्मफलं शुभमशुभं मिथ्याज्ञानेन संगमादेव ।
विषमो हि सङ्गदोषस्तस्करयोगोऽप्यतस्करस्येव ॥ ५३ ॥

---

१. तुलना कीजिए :—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मेवाभूद् विजानत: ।
तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत: ॥
—ईशावास्योपनिषत्, ७ ।

तरति शोकमात्मवित् । —छान्दोग्य, ७-१-३
शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति । —बृहदारण्यकोपनिषत्, ३-५-१

तथा :—

विश्वात्म विश्वतीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति क: ॥
—विज्ञानभैरवविवृति, पृ० ९०

२. सर्वज्ञ: सर्वकर्ता च व्यापक: परमेश्वर: ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्यात् भवेच्छिव: ॥
--विज्ञान भैरव, पृ० १०९

कारिकार्थ—**कर्मों का फल, शुभ या अशुभ, मिथ्या ज्ञान के साथ संगम से होता है संग का दोष विषम होता है जैसे कि जो चोर नहीं है उसको भी संग के कारण चोर होने का दोष लग जाता है[1] ॥ ५३ ॥**

विवृत्यर्थ—अश्वमेध, ब्रह्महत्यादि रूप जो पुण्य और अपुण्य (पाप) कर्मों के फलों के समुदाय का संग्रह है वह 'मिथ्याज्ञान के साथ संगम से' पैदा होता है। मैं शरीरी हूँ, यह अश्वमेधादि मेरे उपाय हैं, इस तरह अनात्मा को आत्मा समझते हुये आत्मा को अनात्मा समझने वाला जो विपरीत ज्ञान है उससे राग के कारण ही पशु (जीव) का शुभाशुभ कर्मफलों का संचय होता है जिससे सदा संस्कारित होने से वह, संसार के क्लेशों का पात्र बनता है। प्रश्न हो सकता है कि (ननु) ब्रह्मस्वरूप प्रमाता को इतने से पशुत्व कैसे आ जाता है ? इसके उत्तर में एक और बात कहते हैं—'विषम होता है' आदि। क्योंकि संग का दोष सर्वथा असह्य होता है अतः जैसे सज्जन में भी अत्यन्त असाधु का संग अपने दोष मिला देता है उसी तरह प्रमाता के शुद्ध होने पर भी भ्रान्ति से उत्पन्न मोह का योग पशुत्व पैदाकर शुभ और अशुभ कर्मों के साथ संबध पैदा कर देता है ॥ ५३ ॥

लोकव्यवहारकृतां य इहाविद्यामुपासते मूढाः ।
ते यान्ति जन्ममृत्यू धर्माधर्मार्गलाबद्धाः ॥ ५४ ॥

कारिकार्थ—**जो लोकाचार से उत्पादित अविद्या को यहाँ भजते हैं, वे मूढ हैं और धर्म तथा अधर्म की शृंखला से बंधकर जन्म और मरण प्राप्त करते हैं ॥ ५४ ॥**

विवृत्यर्थ—जो प्रमाता देह को आत्मा समझते हुये फल की इच्छा से कलुषित होकर लोकाचारस्वरूपा, पुण्यापुण्यमयी अविद्या, भेद-प्रकाश-स्वरूपा माया, को संसार में स्वर्गनरकादि फल को पाने के उपाय के रूप में भजते हैं वे मूढ़ अर्थात् अज्ञ हैं और पुण्य और पाप की शृंखला में बंधे हुये बारबार पैदा होते और मरते रहते हैं, इस तरह सदा संसार के क्लेश को भोगते हैं। पर जिस ब्रह्मस्वभाव योगी के मोह का बंधन नष्ट हो

---

१. तुलना कीजिए :—

यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते ।—कौषीतकि उपनिषद् ३-१

जाता है, धर्म और अधर्म का बन्धन छूट जाता है वह न पैदा होता है और न मरता है ॥ ५४ ॥

अविद्या से अर्जित कर्म भी ज्ञान के आविर्भाव से ही क्षीण होते हैं, अन्यथा नहीं, यह बताते हैं :--

अज्ञानकालनिचितं धर्माधर्मात्मकं तु कर्मापि ।
चिरसंचितमिव तूलं नश्यति विज्ञानदीप्तिवशात् ॥ ५५ ॥

कारिकार्थ--**अज्ञान के समय इकट्ठा किया हुआ धर्माधर्मरूप कर्म भी विज्ञान की अग्नि के बल से चिरकाल से संचित रूई की तरह नष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥**

विवृत्यर्थ—अज्ञानकाल में अर्थात् कृत्रिम प्रमातृता (देहादि में प्रमातृभाव) अपना लेने के अवसर पर, जो पुण्यापुण्यरूप कर्म, अनुकूल-फलों की इच्छा से, स्वीकार किया था वह विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति के वश से नष्ट हो जाता है। मैं ही परम ब्रह्म हूँ यह विज्ञान कृत्रिम प्रमातृभाव को जलाने में समर्थ है उसी का बारम्बार अनुसन्धान करने से जो प्रमा होती है उसी के सामर्थ्य से (कर्म) विनष्ट होता है। कैसे ? जैसे कि चिरसंचित तूल आगी के प्रकाश की क्षमता से तुरत ही राख हो जाता है उसी प्रकार कर्मफलों का ढेर विज्ञानअग्नि के सामर्थ्य से क्षण में ही प्रलीन हो जाता है[1]। गीता में (कहा है) 'हे अर्जुन। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईन्धन को राख बना देती है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्मों को राख कर देती है।' (भगवद्गीता ४।३७)

पहले किये हुये कर्म ही ज्ञान के प्रसाद से नष्ट नहीं होते अपितु अभी के कर्म भी ज्ञान से प्रदीप्त दृष्टि से फलदायक नहीं रह जाते, यह बताते हैं :—

ज्ञानप्राप्तौ कृतमपि न फलाय ततोऽस्य जन्म कथम् ।
गतजन्मबन्धयोगो भाति शिवार्कः स्वदीधितिभिः ॥ ५६ ॥

---

१. तुलना कीजिए :--

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। --मुण्डकोपनिषद् २-२-९

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। —छान्दोग्य उपनिषद् ८-१२-१

कारिकार्थ—ज्ञान पा जानें पर किया हुआ कर्म फलद नहीं होता फिर भला इसका जन्म कैसे (होगा) ? जन्मरूपी बन्धन के साथ सम्बन्ध खत्म हो जाने पर शिव-सूर्य अपनी किरणों से प्रकाशित रहता है ॥ ५६ ॥

विवृत्यर्थ—स्वात्म महेश्वर का विमर्श जम जाने पर जो भी शुभाशुभ कर्म किया जाता है वह कृत्रिम प्रमातृभाव का अभिमान न होने से अपने अनुसार फल नहीं दे पाता, कर्मफल न होने से उसके भोगने के लिये बने जन्म की सत्ता कैसे होगी ?—अर्थात् योगी का पुनर्जन्म नहीं होता। प्रश्न हो सकता है कि शरीर खत्म होने पर वह (योगी) यदि पुनः उत्पन्न नहीं होता है, तो उसका स्वरूप कैसा होता है ? इसका उत्तर है, जन्मरूप बन्धन के साथ जिसका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, जिसका मोह का आवरण नष्ट हो जाता है ऐसा वह शिवरूप सूर्य अपनी किरणों से अर्थात् चैतन्य किरणों के समूह से प्रकाशित होता है। दूसरे दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित मोक्ष इसे नहीं होता अर्थात् किसी स्थान जैसेकि स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं होती। केवल माया आदि के द्वारा किये हुये संकोच के नष्ट हो जाने से वह अपने शक्ति—विकास को प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

इसका दृष्टान्त देते हैं—

तुष-कम्बुक-किंशारुकमुक्तं बीजं यथाङ्कुरं कुरुते।
नैव तथाणवमायाकर्मविमुक्तो भवाङ्कुरं ह्यात्मा ॥ ५७ ॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार तुष, कंबुक और किंशारुक से विहीन बीज अंकुर नहीं पैदा करता है उसी प्रकार आणव, मायीय तथा कार्म (मलों) से विमुक्त आत्मा संसार को अंकुरित नहीं करती ॥ ५७ ॥

विवृत्यर्थ—जैसे किंशारुक (अनाज की बाल का अग्रभाग), तुष (भीतरी छिलका) और कंबुक (बाहरी छिलका) से अलग किया हुआ अनाज का बीज बीजात्मक किंशारुक आदि सामग्री के न रहने से मिट्टी पानी और धूप में रहने पर भी अंकुर पैदा करने का कारण नहीं बनता है, उसी प्रकार कंबुकस्थानीय आणवमल से, तुषस्थानीय माया-मल से और किंशारुक स्थानीय कार्म मल से मुक्त या अलग की हुई आत्मा अर्थात् चैतन्य मलत्रयरूप सामग्री के न रहने से, पुनः ससाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं करता—विश्व के नाना पदार्थसमूहों की उत्पत्ति और विनाश के वैचित्र्य का स्वात्मचिन्तन करता हुआ महेश्वर ही हो जाता है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार ज्ञान अग्नि से जिसके कंचुक-बीज जल गये हैं ऐसे योगी को न किसी से डर होता है और न त्याज्य या ग्राह्य होता है, अतः कहते हैं :—

आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं हि तस्य निजरूपम् ।
नैव च शोचति यस्मात् परमार्थे नाशिता नास्ति ॥५८॥

कारिकार्थ--**आत्मज्ञ कहीं से भी नहीं डरता क्योंकि सब उसी का रूप है और न शोक करता है क्योंकि परमार्थ में विनाशशीलता नहीं होती[1] ॥ ५८ ॥**

विवृत्यर्थ--जो 'आत्मज्ञ' है अर्थात् स्वात्म-महेश्वर के स्वातन्त्र्य को जानना है वह 'कहीं से भी नहीं डरता'--न राजा शत्रु या प्राणियों से। ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर है : 'क्योंकि सब उसी का रूप है'--स्वात्म-महेश्वर से अद्वैत को जाननेवाले उस (ज्ञान या योगी) के लिये सभी पदार्थसमूह, यह विश्व, महाप्रकाशस्वरूप स्वात्मा का ही 'रूप' या आकार है। क्योंकि सभी में प्रकाश व्याप्त है। प्रकाश ही स्वतन्त्रता से अपने और पराये रूप में प्रकट होता है। अतः जो भी डर की जगह दुनिया में मालूम पड़ता है वह उसके अंग समान ही है फिर भला डर कैसे पैदा करेगा ? अपने से भिन्न पदार्थ डर का हेतु हो जाने पर सर्वतः परिपूर्ण (महेश्वर) से भिन्न और परिमित यमादि है ही नहीं जिससे कि देह में आत्माभिमान छोड़ने पर भी ज्ञानी डरे। अतः सर्वत्र अपने स्वरूप की प्राप्ति होने से संसार में रहता हुआ एकाकी होकर भी योगी अपने और पराये का भेद मिट जाने के कारण, निडर विचरण करता है। जैसा कि **पूज्य गुरु** (पर-मेष्ठिपाद **उत्पल**) ने कहा है :--

---

१. तुलना कीजिए :—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।—
तैत्तिरीय उपनिषद् २।९

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि । --बृहदारण्यक उपनिषद् ४-२-४
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।
--ईशावास्योपनिषत् ७ ।

तरति शोकमात्मवित् । --छान्दोग्य उप० ७।१।३

जो इस सारे पदार्थसमूह को आपकी विकल्पविहीन मूर्ति मानता है, नित्य आनन्द में रहने वाले उसको, आत्मा से परिपूर्ण जग में, कहाँ से भय है ?' ग्रन्थकार ने भी :

'मैं अकेला हूँ' इससे मनुष्य संसार में त्रास और क्रूरता के रस से दु:ख पाता है, पर मैं एकाकी (अद्वितीय) हूँ मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं है, इस तरह (सोचने से) भय, चला जाता है और सुस्थ हो जाता है। और न वह 'शोक करता है'--आत्मज्ञ शोक नहीं करता जैसेकि मेरा धन या स्त्री आदि नष्ट हो गई, मैं खाली, व्याधि से पीड़ित हूँ, मर रहा हूँ, आदि। क्योंकि जैसा बताया गया है 'परमार्थ' अर्थात् तात्त्विक वस्तु चैतन्य-स्वरूप में अन्तर्मुख होने पर किसी भी प्रमाता में विनाश का धर्म नहीं रह जाता। वह सब, जिसका सार अभिमान (अध्यास) है, जो कार्य के रूप में प्रतीत होता है, इदन्ता से युक्त है, वह उत्पन्न और नष्ट होता है किन्तु संविद्रूप अहन्तासार अकृत्रिम और स्वतन्त्र का नहीं, क्योंकि उसमें कार्यानुकूल प्रयत्न ही नहीं होता (अर्थात् वह कार्य नहीं बनता जो कि विनाशी हो) और न इससे उस (आत्मा) के स्वरूप की क्षति होती है, यह विचार करने वाले योगी के देह में स्थित होने पर भी देह कृत शोकादि की उत्पत्ति, जो स्वरूप का आवरण बन सके, नहीं होती ॥ ५८ ॥

स्वात्म-महेश्वर के स्वरूप का परिशीलन दृढ़ हो जाने से इस (जीवन्मुक्त) ज्ञानी के चित में अपूर्णता आदि दोष नहीं होते, यह प्रतिपादित करते हैं,--

अतिगूढहृदयगञ्जप्ररूढपरमार्थरत्नसंचयतः ।
अहमेवेति महेश्वरभावे का दुर्गतिः कस्य ॥ ५९ ॥

कारिकार्थ---अत्यन्त गूढ़ हृदय-रूपी **भण्डार में पुरुष परमार्थ की तरह रत्नों के संचय से 'मैं ही (सब) हूं'-- इस प्रकार महेश्वर भाव हो जाने पर किसकी दुर्गति होगी ॥ ५९ ॥**

विवत्यर्थ--'अत्यन्त गूढ़' अर्थात् अत्यधिक गुप्त हृदय रूपी 'गंज' अर्थात् सभी का परमार्थभूत जो स्वस्वरूप है उसका विश्रान्तिस्थान रूप भण्डार, उसमें अत्यन्त तीव्र आश्वासन से प्ररूढ़ जो परमार्थ-सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट स्वात्मज्ञान का स्वरूप--वही सारी विभूतियों का हेतु होने से रत्न संचय के समान है। उसके कारण 'यह सब मैं हूँ' यह जो परम अहन्ता में विश्रान्ति स्वरूप पूर्ण महेश्वररूप-देही होने पर भी आत्मप्रकाशन का

स्वातन्त्र्य है, उसके होने पर विचारी दुर्गति-दरिद्रता अथवा उससे ध्वनित कोई कृत्रिम विभूति-वैशिष्टय कैसे होगा ? सभी पदार्थों का सार (शिव का) आभास है, जब पदार्थ आभासित होते हैं तभी योगी की आत्मा के समान बन जाते हुये उत्कर्ष या अपकर्ष कैसे पैदा कर सकेंगे--अतः किसी प्रकार की दुर्गति आदि नहीं होगी । किस की दुर्गति होगी या इस दुर्गति का पात्र कौन होगा, देहादि में आत्मा का अभिमान करने वाले इस दुर्गति के पात्र बनें क्योंकि वे अपने से भिन्न और काम्य (वस्तु) की प्राप्ति से ईश्वर और (वस्तुओं के छूट जाने से) खाली हाथ (वरि कहलाते हैं पर जो स्वाभाविक अहन्ता के परिशीलन का परमार्थ वाला ज्ञानी वह सब मैं हूँ' (सोचने) से महेश्वर क्योंकि उसका काम्य उससे भिन्न नहीं होता, वह भला कैसे भिन्न (वस्तु) की प्राप्ति या अप्राप्ति के कारण दुर्गति का पात्र बनेगा ? इसीलिये (कारिका में आये) गंज (भण्डार), शब्द का रत्न संचय शब्द का तथा ईश्वर शब्द के अकृत्रिम अर्थ के वाचक विशेषण (क्रमशः) 'हृदय', रूढ़-परमार्थ तथा 'महान्' दिये गये हैं ॥ ५९ ॥

अब मोक्ष का स्वरूप बताते हैं:--

मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥ ६० ॥

कारिकार्थ--**मोक्ष का न कोई धाम है और न कहीं जाना होता है, अज्ञान की गाँठ खोल देने से अपनी शक्ति का अभिव्यक्त हो जाना मोक्ष है**[1] ॥ ६० ॥

विवृत्यर्थ--पूर्ण अहन्ता का चमत्कार जिसका सार है ऐसे मोक्ष, कैवल्य का कोई अलग स्थान (धाम) नहीं है क्योंकि देश या काल इसके अवच्छेदक नहीं हैं । और न इसलिये किसी भिन्न (तत्त्व) में गमन या लय मोक्ष है जैसा कि भेदवादियों के अनुसार उत्क्रान्ति से चक्राधार आदि का भेद न करने से द्वादशान्त में लय होता है । यह है मुक्ति, जैसा कि कहा है :-

'शिवसत्ता व्यापक है तो उत्क्रान्ति का क्या प्रयोजन ? और यदि परम तत्त्व व्यापक नहीं है तो (भी) उत्क्रान्ति से क्या प्रयोजन ।' इसी प्रकार के दूसरे दार्शनिको द्वारा परिकल्पित मोक्ष के अनेक भेद है, उनका यदि विस्तार किया जाये तो ग्रन्थ के बढ़ जाने का डर है, अतः उनका विस्तार नहीं

---

१. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि स० ।
--तन्त्रालोक, भाग १, १।१५६

किया जा रहा है। उन मत्र में द्वैतमल के रहने से अमोक्ष को मोक्ष चाहना मोक्षाभास ही है। तो मोक्ष का क्या स्वरूप है? इसका उत्तर है 'अज्ञान ...' आदि। अज्ञान अर्थात् भ्रान्ति के द्वारा पैदा हुआ आत्मा में अनात्माभिमान के साथ अनात्मा देहादि में आत्मा का अभिमान लक्षण वाला मोह। वही पूर्ण स्वरूप का संकोच करने वाला होने से गाँठ के समान है। अतः गाँठ अर्थात् स्वातन्त्र्य स्वरूप अपने व्यापकत्व आदि का देहाभिमान के कारण बन्धन है, उसका खोलना (भित्) अर्थात् अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य के परिशीलन की दृढ़ता से देहादि को आत्मा मानने की ग्रन्थि को खत्म करना और उस कारण से अपनी शक्तियों से अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य-लक्षण धर्मों से अपनी शक्ति का विकास (अभिव्यक्ति) ही निरतिशय मोक्ष है। अभिप्राय यह है : जैसे सहज नित्य व्यापकत्व आदि धर्मों से युक्त आकाश भी घटादि आधारों के बन्धन से संकुचित होकर वही अव्यापकत्वादि धर्मों से युक्त घटाकाश कहलाता है। और वह आकाश से भिन्न सा भी प्रतीत होता है और फिर घटादि आधारों द्वारा किये गये संकोच के नष्ट होने से वही घटाकाश आदि तत्क्षण व्यापकत्वादि धर्मों से युक्त हो जाता है, घटादि के नष्ट हो से उसमें कोई नया धर्म पैदा नहीं होता। उसी प्रकार देहादि का अभिमान करने से उत्पन्न संकोच से संकुचित चैतन्य बद्ध कहलाता है। वही जब स्वरूपज्ञान की अभिव्यक्ति से देहादि में प्रमातृ भाव का बन्धन नष्ट हो जाने से अपने शक्ति के परामर्श से विकस्वर हो जाता है तो मानो मुक्त हो जाता है। इस प्रकार परिमित प्रमाता की दृष्टि से बन्धन और मोक्ष का सार केवल अभिमान (अध्यास) है वस्तुतः परमार्थ संवित्तत्व में यह कुछ भी (अर्थात् बन्धन या मोक्ष नहीं हो सकता। अतः मुक्ति में कोई नई (वस्तु) सिद्ध नहीं होती, अपना स्वरूप प्रकाशित होता है। यही 'विष्णु-धर्म' में भी कहा गया है :--

'जैसे कुआँ बनाने से जलाकाश की सृष्टि नहीं होती, सत् को ही अभिव्यक्ति दी जाती है, असत् की उत्पत्ति कहाँ से होगी।'

'जैसे धौंकनी के टूट जाने पर हवा, दूसरी नहीं होती, वायु के साथ (तद्रूप होती है) उसी प्रकार जिसके पुण्य और पाप के बन्धन टूट गये हैं वह आत्मा ब्रह्म के साथ दूसरी-भिन्न नहीं होती॥ ६०॥

इस प्रकार अज्ञान के बन्धन को विनष्ट कर दूसरे पर कृपा करने के लिये शरीर को धारण करते हुये भी मुक्त होता है, यह निवेदन करते हैं:—

भिन्नाज्ञानग्रन्थिर्गतसंदेहः पराकृतभ्रान्तिः ।
प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः ॥ ६१ ॥

कारिकार्थ—**जिसकी अज्ञान की ग्रन्थि खुल चुकी है, सन्देह समाप्त हो गया है, भ्रान्ति तिरस्कृत हो गई है, पुण्य और पाप नष्ट हो गये हैं, वह शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर भी मुक्त होता है ॥ ६१ ॥**

विवृत्यर्थ--शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर आत्मज्ञ, शरीरादि में अभिमान के न होने से, जीते हुये भी अर्थात् विकसित शक्ति वाला होता है। शरीर के साथ सम्बन्ध ही बन्धन है तो उससे सम्बन्ध होने पर भी यह मुक्त कैसे होगा? इस शंका का उत्तर है 'भिन्न' इत्यादि। जिसने अज्ञानरूपी ग्रन्थि अर्थात् अपूर्णता की ख्याति से उठने वाले देहादि में अभिमानरूप बन्धन को तोड़ डाला है वह तथा जिसका सन्देह नष्ट हो हो गया है तथा जिसने परम अद्वय की प्राप्ति से द्वयरूप भ्रम को तिरस्कृत कर दिया है तथा परिशीलन से जिसके पुण्य और अपुण्य अर्थात् देह में आत्माभिमान न रहने से विगलित संस्कार वाले धर्म और अधर्म विनष्ट हो गये हैं वह जीवन्मुक्त कहलाता है। इससे प्रतिपादित होता है कि अज्ञान ही बन्धन है। वह शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर भी जिसका विनष्ट हो जाता है वह जीता हुआ भी मुक्त है, अतः शरीर के साथ सम्बन्ध बन्धन नहीं और न उसके साथ वियोग मुक्ति। पर देहपात के अनन्तर मोक्ष पूरा हो जाता है।[1] ॥ ६१ ॥

---

१. सम्पूर्ण सन्दर्भ के लिये कुछ अवतरण उल्लेखनीय हैं :—

(क) जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते ज्ञानतत्कार्यसंचितकर्मसंशयविपर्ययानामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः । —वेदान्तसार, पृ० १२३

(ख) यदा तु शुद्धविद्याशक्त्या संकोचविकासोऽस्य विलाप्यते तदा मुच्यतेऽसौ वै, नच देहपाते अस्य मुक्तिरपितु जीवतोऽपि ।

—स्वच्छन्दतन्त्रटीका, भाग ६, पटल १२, पृ० ५२

(ग) तुर्य तथा तुर्यातीत दोनों अवस्थाएँ जीवमुक्ति है जो आगमशास्त्र में 'समावेश' कहलाती है :—

यदा तूक्तगुरूपदेशादिदिशा तेनैवाहंभावेन स्वातन्त्र्यात्मना व्यापकत्वनित्यत्वादिधर्मपरामर्शमात्मनि विदधता ततः शून्यादेः प्रमेयादुन्मज्ज्येवास्यते

कर्महेतुक शरीर रहने पर भी खाली शरीर चलाने भर के लिये ज्ञान से प्रदीप्त कर्म करते रहने वाले जीवन्मुक्त का कर्म फलदायक नहीं होता, इस संबंध में युक्ति बताते हैं :—

अग्न्यभिदग्धं बीजं यथा प्ररोहासमर्थतामेति ।
ज्ञानाग्निदग्धमेवं कर्म न जन्मप्रदं भवति ॥ ६२ ॥

कारिकार्थ—**जैसे आग में भूना हुआ बीज अंकुरित नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानरूपी आग से जला हुआ कर्म जन्मप्रद नहीं होता है ॥ ६२ ॥**

विवृत्यर्थ—आग में भुना हुआ चावल का बीज धरती, पानी, घाम के बीच में रहने पर भी सामग्री पूरी न होने से, जैसे अंकुरादि पैदा करने में अक्षम हो जाता है उसी प्रकार 'ज्ञानाग्नि से जला हुआ' 'अर्थात् पूर्ण अद्वैत के ज्ञान की प्रभा से भुना हुआ कर्म, मैं ही इस तरह विश्वरूप में प्रकाशमान हूं, इससे देहादि में आत्मा का अभिमान नष्ट हो जाने से त्याज्य और ग्राह्य की बुद्धि छूट जाने से जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है उसकी शक्ति विनष्ट हो जाती है अतः वह ज्ञानी के लिये देहपात

तदा तुर्यातीतावस्था। यदापि परामृष्टतथाभूतवैभवादिनित्यैश्वर्यसंभेदेनैवाहं-भावेन शून्यादिदेहधात्वन्तं सिद्धरसयोगेन विध्यते तदास्यां तुर्यदशायां तदपि प्रमेयतामुज्झतीव। सेयं द्वय्यपि जीवन्मुक्तावस्था 'समावेश' इत्युक्ता शास्त्रे। सम्यगावेशनमेव हि तत्र प्रधानम्, तत्सिद्धये तूपदेशान्तराणि। यथा गीतायाम्- 'मय्यावेश्य मनो ये मां' (१२।२) इति। 'अथावेशयितुं चित्रम्' (१२।९) इत्यादि च। × × × देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः इति कः कुत्र कथं समाविशेत्। तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणं येन देहस्थितोऽपि पतिः इति 'मुक्तः' इति शास्त्रेषूक्तः। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी २)
पृ० २५७-५९

(घ) एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः ।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-२-२

× × × स पुनर्जन्मबन्धविरहात् देहेऽपि स्थिते मुक्त इति व्यपदेशयोग्यः। पतिते तु शिव एकघनः इति कः कुतो मुक्तः। भूतपूर्वगत्या तु प्रमात्रन्तरोपेक्षया मुक्तः शिव इति व्यवहारः। —वहीं, विमर्शिनी

के अनंतर जन्मरूपी फल को पैदा नहीं करता अर्थात् देह को पैदा करने का हेतु नहीं बनता जैसे कि जला हुआ बीज अंकुर के पैदा करने में। अस्तु, सभी में अहंभावात्मा चितिशक्ति को फल की इच्छा न करते हुये किया हुआ कर्म पुनः जन्म नहीं दे पाता है[1] ।। ६२ ।।

ऐसा है तो चितिशक्ति असंकुचिता (विकस्वरा) होने पर भी देहवती कैसे होती है ? इसका उत्तर है :—

परिमितबुद्धित्वेन हि कर्मोचितभाविदेहभावनया ।
संकुचिता चितिरेतद्देहध्वंसे तथा भवति ।। ६३ ।।

कारिकार्थ—**चिति परिमित बुद्धिभाव के कारण होने वाली कर्मानुकूल देह की भावना से संकुचित होती है। इस देह का नाश हो जाने पर वह उसी तरह की हो जाती है ।। ६३ ।।**

विवृत्यर्थ—जो भी कर्म, 'परिमित बुद्धिभाव से' अर्थात् अख्याति द्वारा उत्पादित देहादि में (आत्मा के) अभिमान-संस्कार से जो इच्छा कालुष्य होता है उस बुद्धि से, किया जाता है : जैसे कि 'मैं' अश्वमेध से यज्ञ करूँगा, इस लोक और परलोक में सुखी बनूंगा, मैं कभी दुःखी न बनूं इस कर्म से इन्द्र का पद प्राप्त करूँ। इस तरह के संस्कारों से युक्त कर्ता का उसी के अनुकूल कर्म होता है और मनोवासना में बढ़नेवाले उस कर्म का जो तदनुकूल फलभोक्ता के लायक शरीर बनता है, अर्थात् प्रारब्ध कर्म फलों के भोक्ता शरीर के नष्ट हो जाने से जो बाद में शरीर मिलता है उसकी भावना से 'इस अश्वमेध आदि यज्ञ से साम्राज्यादि प्राप्त करूँगा'

---

१. इस संबन्ध में भगवद्गीता के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं :—
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। —९–२८
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। —६-१
यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः । ४-१९
तथा :—आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशःकर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ।।
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६-४

यह जो इष्ट कर्मफल के संस्कारों का जमना है उससे 'कर्मोचितभा-विदेहभावना' से यह सर्वतः पूर्ण चितिशक्ति आणव और मायीय मल जिसके मूल हैं ऐसे कार्म मल का स्पर्श पाकर संकुचित हो जाती है। वह व्यापक है पर फिर भी घटाकाश की तरह कर्मानुसार फलों के भोक्ता शरीर का संस्कार उसकी उपाधि बन जाता है। किन्तु इस शरीर के नाश होने पर वैसी ही हो जाती है। अर्थात् इस प्रारब्ध कर्मफल का भोक्ता जो शरीर है उसके भोग समाप्त हो जाने पर उसका ध्वंस अर्थात् मरण हो जाने पर जो कर्मसंस्कार पैदा होते हैं, वह चिति उसी संस्कार के अनुकूल उस कर्म के फल को भोगने वाले देहवाली हो जाती है। जिसके कारण चिति भी स्वर्ग, नरक आदि भोगों का पात्र बनती है। अतः शरीरी बनकर परिमित फल की लिप्सा से जो काम किया जाता है वह फल का भोगने वाले जन्म को देने में अवश्य समर्थ होता है पर जो अशरीर होकर 'सब ब्रह्म हूँ' इस रूप में संविद्रूप में जो किया जाता है वह संस्कार को अंकुरित न कर सकने से व्यापिका चितिशक्ति का जन्मदाता कैसे बन सकता है? यह है तात्पर्यार्थ ॥ ६३ ॥

यदि अनात्मभाव से किया हुआ कर्म प्रमाता के संसरण के लिये होता है तो आत्मस्वरूप बताना चाहिये जिससे कि वह संसारी न बने, इस (विषय) का प्रतिपादन किया जा चुका है पर शिष्य जनों को हृदयंगम कराने के लिये पुनः बताया जा रहा है :—

यदि पुनरमलं बोधं सर्वसमुत्तीर्णबोद्धृकर्तृमयम्।
विततमनस्तमितोदितभारूपं सत्यसंकल्पम् ॥ ६४ ॥
दिक्कालकलनविकलं ध्रुवमव्ययमीश्वरं सुपरिपूर्णम्।
बहुतरशक्तिव्रातप्रलयोदयविरचनैककर्तारम् ॥ ६५ ॥
सृष्ट्यादिविधिसुवेधसमात्मानं शिवमयं विबुद्ध्येत।
कथमिव संसारी स्याद् विततस्य कुतः क्व वा सरणम् ॥ ६६ ॥

कारिकार्थ—पर यदि निर्मल, चैतन्य, सभी से परे (निरतिशय) ज्ञातृत्व और कर्तृत्व-स्वरूप, विस्तृत, उदय और प्रलय से रहित प्रकाश जिसकी मूर्ति है, सत्यसंकल्प (६४), दिशा और काल की पकड़ से रहित, ध्रुव, अविनाशी, ईश्वर, सुपरिपूर्ण, अनेकों शक्ति-समूहों की उत्पत्ति और लय करने वाले, (६५) सृष्टि आदि की विधान के निपुण विधाता आत्मा

को शिवमय जान लेता है तो संसारी कैसे होगा ? व्यापक का संसरण कहाँ और कैसे हो सकता है ? (६६) ॥ ६४-६६ ॥

विवृत्यर्थ—पर जो प्रमाता, जिसका हृदय पूर्ण शक्तिपात से अनुगृहीत हो जाता है, देहादि में प्रमातृभाव के अभिमान को हटाकर अपने को शिवमय-चिदानन्दैकघन; समझ लेता है। आत्म-महेश्वरभाव को जानने वाला वह प्रमाता कैसे, किस तरह, संसारी, संसरणस्वभाव का हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। क्योंकि चिदचिद्रूप पुर्यष्टक से अवच्छिन्न आत्मा कार्ममल के संबन्ध से संसरण करती है, पर जो (आत्मा) चिन्मूर्ति, आणवादिमलरूपी कंचुक को नष्ट करनेवाली तथा शिवमय है, वह संसारी कैसे हो सकती है।—यह अभिप्राय है। शंका की जा सकती है कि इसमें क्या दोष है यदि चिन्मूर्ति होकर भी संसारी हो ? इसका उत्तर है :— 'विस्तृत' आदि। देश और काल के आकार से अनवच्छिन्न प्रमाता का, जो देहादि में अभिमान के साथ अपने द्वारा किये हुये कर्मों के संस्कार विनष्ट हो जाने से पूर्ण है, संसरण कहाँ होगा ? क्योंकि वह सभी में व्याप्त है, उससे अतिरिक्त (भिन्न) कोई वस्तु नहीं है जिसकी दृष्टि से उससे अलग हटकर दूसरी जगह भिन्न वस्तु में संसरण, गमन, कर सके। क्योंकि देहादि में प्रमातृभाव के अभिमान से युक्त के लिये अपादान और अधिकरण आदि कारक संभव हैं (अर्थात् कहीं से कहीं जा सकता है) पर जो चिन्मय ब्रह्मरूप और देशकाल से अनवच्छिन्न प्रमाता है उसके लिये संसरण की बात तक नहीं कही जा सकती। शिवरूप आत्मा, जिसे जानले, वह कैसी है ?—इसका उत्तर है : 'निर्मल चैतन्य—'आदि' जिसका आणवादि मलों का समूह विनष्ट हो गया है अतएव विमल हो जाने से जो शुद्ध चिद्रूप है तथा 'सभी से परे' है अर्थात् जिसका ज्ञान और क्रिया का स्वातन्त्र्य निरतिशय है। 'विस्तृत' अर्थात् देशादि के अवच्छेदक के न रहने से जो व्यापक है। अस्त और उदित अर्थात् प्रलय और उदय जिस प्रकाश-बोध प्रभा में विद्यमान नहीं है वह प्रकाश जिसका रूप, देह, है उसे। साथ ही जिसके 'संकल्प' अर्थात् स्वेच्छाविहार सत्य अर्थात् परमार्थ हैं-जो जो चाहता है वैसा ही होता है—ऐसे (शिव) को। तथा जो देश और काल के आकार की चर्चाओं से, व्यापित्व और नित्यत्व धर्मों से मुक्त होने के कारण, विरहित है अतः ध्रुव या कूटस्थ, और अव्यय, अविनाशी, है। तथा ईश्वर अर्थात् स्वतन्त्र है। साथ ही जो 'परिपूर्ण' सभी प्रकार से कामनाओं से रहित है। इसके बाद जो शब्दराशि से उदित अनेकों या प्रभूत ब्राह्मी आदि शक्तियों से अधिष्ठित घटपटादि शक्ति-समूहों के लय और

उत्पत्ति के विधान में स्वतन्त्र है। साथ ही सृष्टि आदि की विधि का सुप्रवीण वेधा या विधाता है। इस प्रकार के विशेषणों से सर्वतः पूर्ण स्वात्म-महेश्वर को जानता हुआ, चाहे जो कुछ करता हुआ, कर्म के बीज को जला देने वाला प्रमाता पुनः संसार का भागी नहीं होता। यहाँ तक कि वह जीते हुये ही विमुक्त हो जाता है ॥ ६४-६६ ॥

स्वात्म-विमर्श की युक्ति से कर्मफल की अभिलाषा को देने वाले ज्ञानी द्वारा किया हुआ कर्म भी फल नहीं देता है—यह निवेदित करते हुये अपने अनुभव से सिद्ध लौकिक दृष्टान्त को बताते हैं :—

इति युक्तिभिरपि सिद्धं यत्कर्म ज्ञानिनो न सफलं तत् ।
न ममेदमपि तु तस्येति दार्ढ्यतो न हि फलं लोके ॥६७॥

कारिकार्थ—**इस तरह युक्तियों द्वारा भी सिद्ध हो जाता है कि जो कर्म ज्ञानी का होता है वह फलवान् नहीं होता. 'यह मेरा नहीं है, अपितु उसका है' (भावना) इसको स्थिर करने से संसार में फल नहीं होता ॥ ६७ ॥**

विवृत्यर्थ—मैं ही चिन्मय स्वतन्त्र, सभी प्रमाताओं में अन्तरतम होने से सभी कर्मों का करनेवाला, अथवा मैं कर्ता नहीं हूं, परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति ही इस तरह करती है तो इससे उस शुद्ध चिद्रूप का क्या बना—'इत्यादि पहले बताई हुई युक्तियों से पूर्ववर्णित आत्मस्वरूप को जानने वाले प्रमाता को दोनों तरह से अर्थात् देहादि में अहंभाव के न रहने से और हेय और उपादेय के न होने से, किया हुआ कर्म भी फल नहीं देता है।—आत्मज्ञानी के लिये, जैसा कि प्रतिपादित किया जा चुका है, दोनों प्रकार से कृत्रिमता (अस्वाभाविक प्रमातृभाव) समाप्त हो जाने से किया हुआ कर्म फल के साथ संबन्ध कहाँ (किस आश्रय में) करेगा ? कर्म कर लेने से प्रमाता को जो फल का अभिमान बढ़ता है वही आश्रय होता है, ज्ञानी का अभिमान नहीं रह जाता अतः अपने स्वरूप में प्रक्षीण कर्म फल के साथ संबंधित नहीं हो पाता। यह प्रश्न किया जाय कि अभिमान के कारण ही फलयोग होता है, वह कहाँ देखा है ? तो उत्तर है, 'यह मेरा नहीं है' आदि। यह देखा गया है कोई नई बात नहीं है कि यह यज्ञादि कर्म 'मेरा नहीं है' 'अपितु उसका' अर्थात् किसी अर्थवान् यजमान का है 'यह सोचकर (याजक द्वारा किया हुआ) यज्ञादि कर्म, मूल्यार्थी के रूप में फलाभिमान न होने से, (वह कर्म) पारलौकिक फल (याजक

को) नहीं देता है। उदाहरण के लिये 'याजक (यज्ञ करानेवाले) यज्ञ करते हैं। (परस्मैपद), यजमान यज्ञ करते हैं (आत्मने पद)' इस न्याय से यज्ञ करनेवाले ऋत्विक् यद्यपि यज्ञकर्म स्वयं करते हैं पर 'यह अश्वमेधादि यज्ञकर्म मेरा कुछ भी नहीं है अपितु पुण्यवान् दीक्षित (यजमान) का है, हम इस यज्ञकर्म में नियमित मूल्य (दक्षिणा) भर चाहते हैं, वैसे कुछ भी नहीं हैं, पर यजमान इस यज्ञ (कर्म) से स्वर्गादि फल का भागी हो' इस तरह उन (ऋत्विजों) में कर्मफल का अभिमान न रहने से स्वयं किया हुआ कर्म भी उनसे संबन्धित स्वर्गादि फल नहीं देता है पर यजमान स्वयं यज्ञकर्म न करते हुऐ भी ऋत्विक् द्वारा संपादित होनेवाले कर्म पर आधीन होते हुये भी 'यह अश्वमेधादि यज्ञकर्म मेरा है, मेरे धन से ये ऋत्विक् (यज्ञ) कर्म में लगे हैं, अतः शरीरनाश के अनन्तर स्वर्गादिफल मुझको ही निश्चित रूप से मिलेगा' इस प्रकार स्वयं कर्म न करने वाले (यजमान) को अभीप्सित कर्मफल में अभिमान दृढ़ होने से कर्म का फल के साथ संबन्ध होता है। इसीलिये 'क्रिया का फल कर्ता को मिलने पर'[१] दीक्षित कर्ता के लिये 'यजमान यज्ञ करता है (यजते) यह आमनेपद होता है। पर कर्ता को न मिलने पर परस्मैपद होता है : यज्ञ कराने वाले यज्ञ करते हैं (यजन्ति)। विकल्प-स्वातन्त्र्य की इतनी अलंघनीय महिमा है कि स्वयं कर्म करने पर भी फलाभिमान न होने से फलयोग नहीं होता है और दूसरों के द्वारा कर्म करने पर भी 'यह मेरा है' इस अभिमान के स्थिर होने से (कर्म) फलदायक हो जाता है। अस्तु, ऋत्विक् के कर्म के समान योगी द्वारा किया जानेवाला कर्म, फलाभिमान न होने से, सफल नहीं होगा ।। ६७ ।।

इस तरह सभी कर्मों में त्याज्य और ग्राह्य के कल्पना-कलंक से दूर बुद्धिवाला ज्ञानी दीप्त (प्रज्वलित) हो जाता है, यह बताते हैं :—

इत्थं सकलविकल्पान् प्रतिबुद्धो भावनासमीरणतः ।
आत्मज्योतिषि दीप्ते जुह्वज्ज्योतिर्मयो भवति ।। ६८ ।।

कारिकार्थ—**इस प्रकार भावना की वायु से प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) सारे विकल्पों का प्रदीप्त आत्मज्योति में हवन करता हुआ ज्योतिर्मय हो जाता है ।। ६८ ।।**

---

१. पाणिनि का सूत्र है :—
स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १-३-७२

विवृत्यर्थ—इस प्रकार, 'अर्थात् जैसे पहले बताया जा चुका है, जो भावना है'—'मैं ही संवित्-महेश्वर सभी रूपों में सदा इस तरह प्रकाशमान हूँ' यह जो आत्मा में विमर्श का विकास है—वही धीरे-धीरे बढ़ती हुई वायु के समान है। उससे 'प्रतिबुद्ध' ज्ञानी, उस राख में लिपटी आग के समान है जो वायु से जल उठती है, 'सारे विकल्पों को'-'मैं कर्म के बन्धन में बँधा हुआ देही पशु हूं, यह पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं, अमुक कर्म से स्वर्ग या नरक होगा'-इस प्रकार की सारी कल्पनाओं को, जो 'मैं ही यह सब हूं' इस विमर्श की अंग हैं, 'प्रदीप्त' अर्थात् पूर्ण अहन्ता-चमत्कार सार वाली 'आत्मज्योति' या चैतन्यवह्नि में हवन करते हुये अर्थात् विकल्प शून्य संविद्रूप में समावेश के द्वारा समर्पण करते हुये वह (ज्ञानी) 'ज्योतिर्मय हो जाता है'—जलाने योग्य विकल्परूपी ईंधन के भस्म हो जाने से अग्नि की तरह चिदग्नि ही बन जाता है, अर्थात् स्वरूप पूर्ण प्रमाता का रह जाता है ॥ ६८ ॥

उपर्युक्त तरीके से जो (ज्ञानी) उत्कृष्ट इस योग के अभ्यास में लगा हुआ है वह शेष व्यवहार से समय कैसे गुजारता है, यह बताते हैं :—

अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः ।
यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्वभूतात्मा ॥ ६९ ॥

कारिकार्थ—**चाहे जो कुछ खाता हुआ, चाहे जिससे ढपा हुआ, शान्त, चाहे जहाँ रह जाने वाला, सभी जीवों की आत्मा वह मुक्त हो जाता है ॥ ६९ ॥**

विवृत्यर्थ—जो कुछ भी खाने लायक सामान सामने पड़ जाये अर्थात् किसी नियम से नहीं, उसे खाता हुआ 'चमत्' करता हुआ'[1]—'यह पवित्र है, यह अपवित्र है, यह खराब अन्न है, यह स्वादिष्ट अन्न है' इस तरह की हेय और उपादेय की कल्पनाओं से वियोग के कारण बिना कोशिश जो कुछ भी सामने आ पड़ता है उसे ग्रहण करता हुआ। तथा 'चाहे जिससे ढंपा

---

१. खाने में 'चमत्' 'चमत्' की ध्वनि होती है, उसी से 'चमत्कार' शब्द बना है : चमत् करोति (क्रियते वा) इति चमत्कारः। पाक और भोजन पान से सम्बन्धित अनेक शब्द तथा दृष्टान्त अलंकारशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र ने स्वीकार किये है : जैसे कि रस, पानकचर्वणान्याय, भोग, भोक्ता आदि। उन्हीं में से एक चमत्कार शब्द है जो मूलतः भोजन करते समय होने वाली आस्वाद की ध्वनि को अभिव्यक्त करता है।

हुआ'—कथरी, चमड़े, वल्कल, कपास के कपड़ा अथवा चमकीले वस्त्रों से ढंपा हुआ। दोनों ही तरह से न उसका उत्कर्ष होता है और न अपकर्ष शरीर को ढाँकने लिये जो भी करता है उससे न तो किसी से द्वेष करता है और न स्तुति। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि वह 'शान्त' अर्थात् सुख-दुःखादि विकल्पों से परे हो जाता है। और 'चाहे जहाँ रह जाता है' अर्थात् स्थान चाहे जैसा हो उसे सहारा भर चाहिये उसे क्षेत्र, आश्रम या तीर्थ आदि पवित्र होने से न स्वीकार्य होता है और न श्मशान, श्वपच का घर आदि अपवित्र होने से त्याज्य। बिना किसी यत्न के जो भी स्थान सामने आ जाता है वहीं ठहर ज़ाता है क्योंकि उसे पवित्र या अपवित्र की कल्पना का कलंक नहीं छू पाता। 'मुक्त हो जाता है' इस तरह अपने व्यवहार से दूसरों के कल्याण में प्रवृत्त (ज्ञानी) समय बिताता हुआ 'मुक्त हो जाता है' अर्थात् परमशिव बन जाता है। कहा भी है :—

'चाहे जिससे ढका हुआ चाहे जिससे पेट भर लेने वाला, चाहे जहाँ सो जानेवाला जो है उसको देवता ब्राह्मण समझते हैं।'

मोक्षधर्म में भी (कहा गया है) :—

'पवित्र मैं अजगर का यह व्रत कर रहा हूँ, जिसमें फल भक्ष्य, भोज्य और पेय अनिश्चित हैं, देश और काल विधि के परिणाम से बँटा हुआ है, कायर जिस (व्रत) का सेवन नहीं कर सकते और जो हृदय को आनन्द देता है'

इस तरह से करता हुआ ज्ञानी स्वयं मुक्त कैसे हो जाता है ? इसका उत्तर है वह 'सर्वभूतात्मा है' अर्थात् वह सारे जीवों की आत्मा है, और सारे जीव उसकी आत्मा है। इस कारण कोई भी उसका बन्धन नहीं बनता सब कुछ मुक्ति का साधक होता है ॥ ६९ ॥

इस तरह के निरभिमान और चाहे जो कुछ करने वाले (ज्ञानी) को न पुण्य और पाप हो सकता है, यह बताते है :—

हयमेधशतसहस्राण्यपि कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि ।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ॥ ७० ॥

कारिकार्थ—**सैकड़ों हजारों अश्वमेध कर डालता है अथवा लाखों ब्रह्महत्याएँ, पर परमार्थ को जानने वाला वह मलरहित (ज्ञानी) पापों से नहीं छुआ जाता है ॥ ७० ॥**

विवृत्यर्थ—जो परमार्थ को जाननेवाला 'अर्थात् मैं ही महेश्वर हूँ यह तत्त्व जानता है वह अश्वमेध, राजसूय आदि असंख्य यज्ञों को फल की इच्छा से अभिमान न करके 'यह कर्तव्यमात्र है' इस प्रकार से यदि लीला-हेतु विहित कभी करता है। अथवा ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी आदि प्रमाद किये जाने वाले महापातक जो विहित नहीं हैं उन्हें शरीर (में अभिमान) के बगैर करता है तो दोनों रूपों में 'मैं-मेरा' का अभिमान न होने से 'परमेश्वर की इच्छा ही ऐसा कर रही है, मेरा क्या है' इस तरह सोचने से न पुण्यों-शुभफलों, और न पापों--अशुभों, से ज्ञानी 'छुआ जाता है' अर्थात् मलिन बनाया जाता है। ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर है : मलरहित—आदि। क्योंकि उसके आणव, मायीय तथा कार्म मल, जो संसरण के कारण हैं क्षीण हो गये हैं। अतः जो मलिन प्रमाता है उसका तो विनाशी देहादि में प्रमातृभाव होने से स्वयं और स्वकीय का अभिमान रहता है जिससे 'मेरे यह कर्म शुभ हैं, यह अशुभ हैं' इस अभिमान की क्रूरता के कारण पुण्य और पाप की राशि से सम्बन्ध होता है पर जिसके कर्मफलों का संचय—ममत्व का हेतु मलराशि विनष्ट हो गया है उसमें अभिमान न होने से पुण्य और पाप का स्पर्श कैसे होगा ? जैसा कि भगवद्गीता में (कहा है)—'जिसका मैं कर्ता हूँ का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह इन लोकों को मारकर भी न मारता है और न पाप से बँधता है।' (भगवद्गीता १८-१७)

इस प्रकार के योगी की नियत चर्चा का विचार करते हुये कहते हैं—

मदहर्षकोपमन्मथविषादभयलोभमोहपरिवर्जो　।
निःस्तोत्रवषट्कारो जड इव विचरेदवादमतिः ॥ ७१ ॥

कारिकार्थ—**मद, हर्ष, कोप, मन्मथ, विषाद, भय, लोभ, मोह को छोड़नेवाला, स्तोत्र और वषट्कार से अलग, (वह ज्ञानी) जड की तरह वादों में बुद्धि न लगाता हुआ विचरण करता है ॥ ७१ ॥**

विवृत्यर्थ—मद देह में प्रमातृभाव का अभिमान है, हर्ष अप्राप्त को पा लेने से (होने वाला) प्रमोद है, कोप क्रोध है, मन्मथ संभोग की अभिलाषा है, विषाद इष्ट से वियोग के कारण मूढता है, भय शत्रु या सिंह व्याघ्रादि से डर है, लोभ कृपणता है, मोह प्राणियों में अपना और अपने का भाव है। इन सबको—देहसंस्कार के विचारों के बीच-बीच में आने पर भी 'मैं सब ब्रह्म हूँ' इससे हटा देता है और विकल्पशून्य संवित् के स्वरूप में

समावेश के द्वारा आत्मपरामर्श का अंग बना देता है। तथा वह स्तोत्रों और वषट्कारों से निकला हुआ होता है क्योंकि किसी भिन्न स्तुत्य के न होने से उसका स्तोत्र आदि का उपयोग नहीं है और न वषट् आदि मन्त्रों का सहारा लेता है क्योंकि (स्वयं से) भिन्न कोई देवता है नहीं। केवल वह 'जड की तरह वादों में बुद्धि न लगाता हुआ विचरण करता है'। पूर्ण होने से तथा आकांक्षा न रहने से पागल की तरह इतिकर्तव्यतारूप शास्त्रीय कर्म या प्रमाणों से उपपन्न प्रमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रमाताओं के साथ 'यह ठीक है, यह नहीं' इत्यादि विचारों से (अपनी) बुद्धि को हटा कर अर्थात् न अपने लिये उपदेश चाहता है और न उपदेश देने के किसी विषय को (स्वयं) प्रस्तुत करता है—इस प्रकार वशी बनकर सबको ब्रह्म देखता हुआ खेल के लिये विहरता रहता है अतः जड के रूप में (यहाँ) बताया गया है ॥ ७१ ॥

इस प्रकार मदादि समूह को छोड़ते रहने पर भी ज्ञानी शरीर के रहते हुये हमारी तरह (मदादि से) स्पष्ट क्यों नहीं होता ? इसका कारण बताते हैं :—

मदहर्षप्रभृतिरयं वर्गः प्रभवति विभेदसंमोहात् ।
अद्वैतात्मविबोधस्तेन कथं स्पृश्यतां नाम ॥ ७२ ॥

कारिकार्थ—**मद हर्ष आदि का वर्ग भेद का मोह रहने से समर्थ होता है, यह भला अद्वैत आत्मज्ञान को कैसे छु सकेगा ॥ ७२ ॥**

विवृत्यर्थ—इससे पहिली कारिका में प्रतिपादित 'मदादिवर्ग भेद का मोह रहने से होता है'—आत्मा का निजी जो भेद से मोह अर्थात् अपूर्णता-ख्याति है उसीसे अर्थात् पशुप्रमाताओं में द्वैतरूप भ्रान्ति से हेय और उपादेय के रूप में यह उत्पन्न होता है 'पर जो' सब ब्रह्म हूँ इस पूर्ण अद्वयज्ञानवाला आकाशकल्प उत्कृष्ट ज्ञानी होता है वह इस मदादिवर्ग से कलुषित नहीं होता (मदादिवर्ग इसे छू नहीं पाते)। भिन्न वस्तु (अपने से) भिन्न वस्तु को भले ही कभी अपना स्वरूप प्रदान कर दे पर ब्रह्म के रूप में स्वीकारा गया मदादिवर्ग ब्रह्मभूत ज्ञानी के जो एक ही जाति का है, कैसे विरोध होगा ॥ ७२ ॥

बाह्य स्तवन, हवन आदि भी द्वैत पर आधारित है अतः उस (ज्ञानी) को सन्तोष नहीं दे पाता, यह बताते हैं :—

स्तुत्यं वा होतव्यं नास्ति व्यतिरिक्तमस्य किंचन च ।
स्तोत्रादिना स तुष्येन् मुक्तस्तन्निर्नमस्कृतिवषट्कः ।। ७३ ।।

कारिकार्थ—**न उसका स्तुत्य होता है, न होतव्य, उससे अलग कुछ है ही नहीं, वह स्तोत्र आदि से सन्तुष्ट नहीं होता, नमस्कार और वषट्कार से परे मुक्त (व्यक्ति) होता है ।। ७३ ।।**

विवृत्यर्थ—अद्वय ज्ञान स्वरूप ज्ञानी के लिये न कोई देवता स्तुत्य होता है और न होतव्य क्योंकि उससे भिन्न कुछ नहीं होता है जिसकी स्तुति या हुति की जाए। और न कर्तव्य मानकर वह आत्मज्ञ स्तोत्रादि के द्वारा परितोष पा सकता है क्योंकि अद्वय ज्ञान का मजा लेने से नित्य आनन्दमय हो जाने के कारण वह कृत्रिम आनन्द का (जो स्तोत्र आदि से प्राप्त होता है) आदर नहीं करता, अतः नमस्कार और वषट्कारों से जो अलग होता है वही वेदान्तों में मुक्त कहा गया है ।। ७३ ।।

उसे भिन्न देवमन्दिर से भी काम (उपयोग) नहीं आत्मदेवता का अधिष्ठान अथवा संवित् का आधार अपना शरीर ही और कोई नहीं, उसका देवमन्दिर है कोई अलग (अपने से भिन्न) देवमन्दिर नहीं होता, यह बताते हैं :—

षट्त्रिंशत्तत्त्वभृतं विग्रहरचनागवाक्षपरिपूर्णम् ।
निजमन्यदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम् ।। ७४ ।।

कारिकार्थ—**छत्तीस तत्त्वों से भरा हुआ, शरीर की रचना रूपी पदार्थों से परिपूर्ण, अपना या दूसरे का शरीर अथवा घटादि ही उसके लिये देवता का घर है ।। ७४ ।।**

विवृत्यर्थ—उस ज्ञानी का अपनी या दूसरे की देह ही देवता का घर है क्योंकि वही स्वात्मदेवता के भोग्य का आधार है। बाह्य[1] मेरु आदि प्रासाद तभी देवगृह बनते हैं जब गुरुद्वारा छत्तीस तत्त्वों की गणना रूप शरीर की व्याप्ति से परिकल्पित होते हैं (अर्थात्– जैसे शरीर छत्तीस तत्त्वात्मक है उसी प्रकार जब देवमन्दिर को भी छत्तीस तत्त्वात्मक शरीर प्रतिष्ठा विधि द्वारा लिया जाता है) उसमें स्थिति देव बाह्य होने पर भी आत्मा की व्यापकता के कारण चिन्मय मान लिया जाता है तभी वह देव कहलाता है, अन्यथा दोनों ही (अर्थात् मन्दिर और उसमें प्रतिष्ठित

---

1. मेरु विशिष्ट प्रकार के मन्दिर को कहा जाता है।

देवता) जड हैं, पत्थर के टुकड़े के समान हैं वे कैसे भक्तों का उद्धार करेंगे 'अथवा मरे हुये को सामीप्य प्रदान कर सकेंगे ? इस प्रकार मुख्य वृत्ति (अभिधा) से शरीर, संवित् का आश्रय होने के कारण, देवगृह है, उसमें स्थित सभी की आत्मा देवता है, अतः ज्ञानी के लिये देवगृह है। वह कैसा है (देवगृह) ? इसका उत्तर है : छत्तीस तत्त्वों से......आदि। बाह्य (मन्दिर) के छत्तीस तत्त्वों से व्याप्त होने की कल्पना करनी पड़ती है पर देहरूप देवमन्दिर तो साक्षात् छत्तीस तत्त्वों से भरा हुआ, पोषित है। बाह्य मन्दिर में झरोखे लगाये जाते हैं, और यह (देह मन्दिर) विग्रह (शरीर) में रचना अर्थात् इन्द्रिय रूप द्वारों की प्रणाली रूप अन्धकार को दूर करने की कल्पना से परिपूर्ण या अक्षुण्ण है[1]। अतः बाह्य देवगृह के समान है। शरीर संवित् का आश्रय है इसीलिये वह देवगृह नहीं है अपितु जो कुछ भी संवित् से अधिष्ठित है वह सब उसका देवमन्दिर है, यह बताते हैं : अथवा घट आदि। घटादि से ध्वनित ये पाँच विषय जो चक्षु आदि के माध्यम से भोग्यरूप हैं वे संवित् से अधिष्ठित हैं : 'भोक्ता ही भोग्य के रूप में सदा सर्वत्र विद्यमान है।' (स्पन्दकारिका ३।२)

स्पन्दशास्त्र के इस उपदेश की दृष्टि से (भोग्य) संविद्रूप ही है। ज्ञानी के लिये भौतिक शरीर के समान घटादि विश्व भावशरीर है अतः वह भी अभिन्न है और अपने शरीर के समान देवता का घर है—क्रीड़ाशील स्वतन्त्र स्वात्म-महेश्वर का घर अर्थात् भोग्य का अधिष्ठान है ॥ ७४ ॥

बाह्य देवमन्दिर में भक्त को फूल आदि लाकर देवता की पूजा में तत्पर देखा जाता है, देहरूपी देवमन्दिर में ज्ञानी क्या करता रहता है ? इसे बताते हैं :—

तत्र च परमात्ममहाभैरवशिवदेवतां स्वशक्तियुताम्।
आत्मामर्शनविमलद्रव्यैः परिपूजयन्नास्ते ॥ ७५ ॥

कारिकार्थ—**और वहाँ परमात्मा महाभैरव शिव देवता, जो अपनी शक्ति से युक्त है, की आत्मपरामर्शरूप विमल द्रव्यों से पूजा करता रहता है ॥ ७५ ॥**

---

1. जिस प्रकार मन्दिर में अन्धकार को दूर करने के लिये गवाक्ष होते हैं उसी प्रकार शरीररूपी देवमन्दिर में इन्द्रियाँ गवाक्ष के समान हैं जो अन्धकार की शत्रु (तमोरि) होती हैं।

विवृत्यर्थ—उस अपने देह-रूपी देवता के मन्दिर में उत्कृष्ट योगी 'परमात्मा' सर्वातिशायी चैतन्यस्वरूप आत्मा जो सम्पूर्ण शब्दादि विषयोपयोग को विलीन करने में निपुण होने से भैरव, भरण, शब्दन और वमन स्वभाव का, है वही शिवदेवता, प्रकृष्ट कल्याण स्वरूप देव, है उसकी पूजा करता रहता है सदा निम्नांकित क्रम उसका तर्पण करते हुए प्रकाशमान है। बाह्य देवता परिवार के साथ रहती है तो क्या इस (शिवदेवता) की सपरिवार अर्चना की जाती है ? इसका उत्तर है, अपनी शक्तियों से युक्त चैतन्य की किरणभूत चिद्, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्तियों की विभवरूपिणी जो चक्षु आदि की अपनी इन्द्रिय शक्तियां है उनसे चारों और से समन्वित (शिवदेवता को पूजता है)। किनसे पूजा करता है ? इसका उत्तर है : आत्मपरामर्श—आदि। 'यह सब आत्मा ही है' यह जो विमर्श अर्थात् सभी पदार्थों के संवित्स्वरूप होने से पूर्ण अहन्तास्वरूप जो परामर्श है उससे द्वैत की कालिमा का कलंक मिट जाने से जो शब्दादि पांच विषयरूप पूजा के लिए द्रव्य हैं वे जाड्य के दूर हट जाने से विमल हो जाते हैं उन स्वात्मविमर्श से शुद्ध द्रव्यों से (शिवदेवता की पूजा होती है)। अभिप्राय यह है : ज्ञानी हेय और उपादेय के भेदकलंक को छोड़कर, श्रोत्रादि इन्द्रियों की (अधिष्ठात्री) देवियों द्वारा बिना किसी प्रयास के लाये हुये शब्दादि पांच विषयों का बाहर से हटाकर अन्तरपट में चमत्कार का अनुभव करते हुये अपनी आत्मा के साथ अभेद स्थापित कर देता है। और इस प्रकार प्रत्येक विषय को ग्रहण करते समय जो अन्तस् अभेद के कारण सदा चमत्कार, पूर्ण अहन्ता का स्फुरण, हुआ करता है वही स्वात्मदेवता का पूजन है। अतएव शब्दादि विषय पूजा के उपकरण हैं। अतः सावधान (साधक को) विषय ग्रहण करते समय प्रतिक्षण आत्मदेवता का पुजारी बने रहना चाहिये, यह रहस्य जाननेवाले (कहते हैं)। यही (बात) राजानक राम ने स्तुति के द्वारा निबद्ध की है :

"नित्य, बन्धनहीन प्रयत्नों से लाये गये जगत् के पदार्थों के उपहार को अर्पण करने में व्यग्र तैजसी (चक्षु:संबन्धिनी इन्द्रियशक्ति) आदि शक्तियों से तुम्हारा तर्पण किया जाता है अतः मांस, रुधिर, चर्बी और हड्डियों के उभार से भरे श्मशानगृह शरीर में संसार—निशा में घूमने में वीर मुझको (अपना) भैरव रूप दिखाओ ॥ ७५ ॥"

पूजा के अन्त में अग्निहोत्र होना चहिये, वह ज्ञानी का किस प्रकार होता है ? यह बताते हैं :—

बहिरन्तरपरिकल्पनभेदमहाबीजनिचयमर्पयतः ।
तस्यातिदीप्तसंविज्ज्वलने यत्नाद्विना भवति होमः ॥ ७६ ॥

कारिकार्थ—बाहर (बाह्य) और अन्दर (आन्तर) की कल्पना रूप भेदमहाबीज के समूह को अत्यन्त प्रदीप्त संविद्रूपी अग्नि अर्पण में करने वाले उस (ज्ञानी) को होम बिना प्रयत्न के होता रहता है[1] ॥ ७६ ॥

विवृत्यर्थ—स्वात्म देवता का यजन करनेवाले 'उस' (ज्ञानी) का पूर्ण अहन्ता चमत्कार से प्रकाशित चैतन्य-अग्नि में 'बिना प्रयत्न' तिल, आज्य, इंधन आदि को स्वीकार करने की पीडा के वगैर, होम वह्नि में अर्पण हो जाता है। क्या करते हुये (यह होम होता रहता है ?) इसका उत्तर है : बाहर और अन्दर·········आदि। बाहर अर्थात् नीलादि प्रमेय में जो अपने और पराये प्रमाता की कल्पना है (?) और अन्दर के (अन्तर्ग्राह्य) सुखादि के बारे में जो संकल्प है, और इस तरह बाह्य प्रमेय और अबाह्य प्रमाता के बारे में निश्चय, संकल्प और अभिमान के रूप में 'भेद' या नानात्व है वही 'महाबीज' है क्योंकि प्रमाता और प्रमेय की उसी से उत्पत्ति होती है, कल्पना स्वरूप भेद बीज का समूह, भेद के अनन्त होने के कारण उसकी राशि को पूर्ण अद्वय की दृष्टि से विकल्प शून्य संवित्स्वरूप में समावेश के द्वारा आत्मवृद्धि में हवन करते हुये (ज्ञानी का होम होता रहता है)। अभिप्राय यह है कि पर ब्रह्मात्मक योगी का, देहादि में प्रमाता का अभिमान न रहने से, जो स्वभावसिद्ध अपने पराये प्रमाता और प्रमेय की गणना का नष्ट होना है, वही स्वाभाविक होम है। जैसा कि **श्री वीरवामनक भट्ट** ने कहा है :—

"जिसमें द्वैत का इंधन है, मृत्यु ही महापशु है उस अलौकिक यज्ञ से नित्य हवन किया करते हैं" ॥ ७६ ॥

इस तरह के यज्ञ करने वाले का ध्यान (का स्वरूप) बताते हैं :-

ध्यानमनस्तमितं पुनरेष हि भगवान् विचित्ररूपाणि ।
सृजति तदेव ध्यानं संकल्पालिखितसत्यरूपत्वम् ॥ ७७ ॥

---

१. महाभूतलये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा—विज्ञानभैरव, १४९ ।

कारिकार्थ –(ज्ञानी का) ध्यान अविनाशी है क्योंकि वह भगवान् विचित्ररूपों की सृष्टि करता रहता है। जिसके परमार्थस्वरूप का आलेखन संकल्प से होता है वही ध्यान है[1] ।७७।।

विवत्यर्थ – जिस आकार को एक निश्चित रूप में सोचा जाता है वह मनोवृत्ति (अन्यत्र) जाने पर नष्ट हो जाता है पर (ज्ञानी का) ध्यान अविनाशी है क्योंकि 'यह भगवान्' अनन्त आत्मस्वरूप महेश्वर क्रियाशक्ति स्वरूप विकल्पों के स्वातन्त्र्य से जिन 'विचित्ररूपों की सृष्टि करता है' अर्थात् नाना पदार्थरूप विकल्पात्मक आकारों को बुद्धि दर्पण में सदा प्रतिबिम्बित करता रहता है वही इस (ज्ञानी) का लय और उदय से विहीन

---

१. शुद्ध विद्या का परामर्श ही स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान. जप आदि है। वाह्य कर्मकाण्ड तो मायीय होने के कारण भेदको उत्पन्न करता है। इस संबंध में निम्नांकित उल्लेख्य है—

शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा ॥
स्नानशुद्ध्यर्चनाहोमध्यानजप्यादियोगतः ।
विश्वमेतत्स्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसात् ॥११५॥
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम् ।
उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते ॥११६॥
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते ।
इत्थं च विहितस्नानस्तर्पितानन्तदेवतः ॥११७॥
यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ ।११८
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत् ।
पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि संगतिः ॥२२१॥
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ।

तन्त्रालोक, चतुर्थ आह्निक

पूजा का वास्तविक अर्थ—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥

—विज्ञानभैरव, १४७

ध्यान का स्वरूप—

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ॥

—वही, १४६

है, इससे भिन्न (ध्यान) कुछ भी नहीं है। दूसरे देवताविशेष का ध्यान करने) में तो अनेक मुख आदि अंगों की परिकल्पना करने से नैयत्य आ जायेगा। सारा मनोव्यापार परम शक्ति के विकाश का पल्लव है–यह जाननेवाले के लिये उपाधिरहित यह सब परमेश्वर बन जाता है। तथा 'संकल्प' अर्थात् मन से आलेखन अर्थात् संवित् के अधार में चित्र-निर्माण जिसका परमार्थ स्वरूप है वह (ध्यान) है। ऐसा इसलिये है क्योंकि यह सब जो भी प्रकाशमान है वह विकल्पों से उल्लेखित (संविद्भित्ति में चित्र की तरह बनाया हुआ) होने से मनोव्यापाररूप (संकल्पात्मक) होने पर भी प्रकाश से भिन्न न होकर ही सत्य है, क्योंकि संवित् सभी में अनुस्यूत है। जैसा कि **श्री स्वच्छन्दशास्त्र** में कहा गया है :—

"जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं वहीं उसे स्थिर करना चाहिये, चलकर जायेंगे कहाँ क्योंकि सब (कुछ) शिवमय है।"

तथा **शैव उपनिषद्** में (कहा गया है) :—

'प्रिये, बाह्य या आन्तर जिस किसी (विषय) में मन जाये वहाँ-वहाँ व्यापक होने से शिवावस्था होती है, फिर मन (अन्यत्र) कहां जायेगा ? अतः योगी का यह सहज ध्यान है।'[1] ७७॥

इसका जप कैसा होता है, यह बताते हैं :—

भुवनावलीं समस्तां तत्त्वक्रमकल्पनामथाक्षगणम्।
अन्तर्बोधे परिवर्तयति यत्सोऽस्य जप उदितः॥ ७८॥

कारिकार्थ—समस्त भुवनावली को, तत्त्वक्रम की कल्पना को, और इन्द्रियसमूह को जो अन्तर्बोध में परिवर्तित कर देता है, वही इसका जप है[2] ।७८॥

१. योगसूत्रकार ने 'यथाभिमतध्यानाद्वा' १-१४ के द्वारा ध्यानको चित्तस्थैर्य का साधन माना है।

२. जप के संबन्ध में उल्लेखनीय है :—

(क) संनियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥
—जपसूत्र, पृ० ३८ पर उद्धृत

(ख) तज्जपस्तदर्थभावनम्।—योगसूत्र १-२८

(ग) जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।
—विज्ञानभैरव, १४५

विवृत्यर्थ —आगे बताये जानेवाले क्रम से विश्व का प्रतिक्षण अभेद से पूर्ण अहन्ता में विमर्श ही इसका सहज रूप में जप कहा गया है। यह (जप) कैसा है ? इसका उत्तर है छत्तीस तत्त्वग्राम के अन्दर रहने वाली दो सौ चवालिस की सम्पूर्ण प्राकार पंक्ति को तथा 'तत्त्व क्रम की कल्पना को' अर्थात् तत्त्वक्रम या आत्मविद्या-शिव के परिच्छेद को और अन्तः बाह्य रूप इन्द्रियसमूह को जो 'अन्तर्बोध' अर्थात् मध्यम प्राणशक्ति के रूप में हार बनी हुई आत्मसंवित् में नाद और बिन्दु के प्रवाह के द्वारा परिवर्तित कर देता है अर्थात् रहट की तरह प्रत्येक प्राण विक्षेप में सृष्टि, स्थिति, तथा संहार के क्रम से सब कुछ को अपनी संवित् में घुमाता रहता है वही पूर्ण अहन्ता में विश्रामस्वभाव का सहज जप है। अभिप्राय यह है :—वाच्यरूपा देवता के वाचक मन्त्र का उच्चारण ही जप है, उसकी गणना प्राणशक्ति में व्यापक अक्षमाला में अक्ष (इन्द्रिय, तथा गुरिया) को चलाकर की जाती है। किन्तु परमाद्वय के योगी के लिये तो अपनी प्राणशक्ति तन्तु-स्थानीय है जो मध्यमप्राण में प्रवाह की तरह नाद करती हुई सहज उदित है तथा सभी गुरियों को क्रोडीकृत करनेवाली स्वाभाविक अक्षमाला है। चूँकि छत्तीसतत्त्वात्मक यह वाच्य विश्व प्राय शक्ति में प्रतिष्ठित है अतः प्रत्येक प्राण विक्षेप में उदय और व्यय के द्वारा परास्वभावा भगवती प्राणस्वरूप का आश्रय लेकर विमर्श करती हुई प्राणों के प्रत्येक स्पन्दन में सावधान योगी का सहज जप साधती है। जप की संख्या **शैव उपनिषद् (विज्ञानभैरव १५६)** में (दी है) :

देवी का इक्कीस हजार छह सौ रात दिन का सहज जप बताया गया है, जो अज्ञानी के लिये दुर्लभ है। **शिवसूत्र** में (कहा है) :—

जप कथा है (३ उ० २७ सू०)।

अस्तु, यह पूज्यपाद एवं सावधान योगियों के लिये सुलभ है ॥७८॥

यह इसका व्रत है, यह बताते हैं :—

सर्वं समया दृष्ट्या यत्पश्यति यच्च संविदं मनुते।
विश्वश्मशाननिरतां विग्रहखट्वाङ्गकल्पनाकलिताम् ॥ ७९ ॥
विश्वरसासवपूर्णं निजकरगं वेद्यखण्डककपालम्।
रसयति च यत्तदेतद् व्रतमस्य सुदुर्लभं च सुलभं च ॥ ८० ॥

कारिकार्थ— **सबको सम दृष्टि से जो देखता है और जो विश्व-श्मशान में निरत तथा विग्रह (शरीर) की खट्वांगकल्पना वाली संवित् को मानता**

है (७९) तथा यह जो वेद्यखण्ड के कपाल को, जो विश्व के रसासव से पूर्ण तथा अपने हाथ में पकड़ा हुआ है, रसियाता है, वही इसका सुलभ और दुर्लभ व्रत है ॥ ८० ॥

विवृत्यर्थ –आगे बताया जानेवाला ही इस ज्ञानी का व्रत स्वात्म-देवता के आराधन के लिये नियम है, जो दुर्लभ भी है और सुलभ भी। दुर्लभ इसलिये क्योंकि अख्याति का विनाश दुःख से होता है और यह दूसरे, उपायों को छोड़ देने वाले परमेश्वर के अनुग्रह से पाया जाता है। 'सुलभ' इसलिये है क्योंकि अस्थि, भस्म आदि के आभरण और आहार के नियमों को स्वीकार करने की पीड़ा के वगैर सुख से पा लिया जाता है। यह व्रत क्या है ? इसे 'सबको ....' आदि से बताया गया है। यह सब जो प्रातीतिक भेदप्रकाश है वह युक्ति, आगम और अनुभव के परामर्श के द्वारा अभेददृष्टि से 'एक मैं इस सब के रूप में प्रकाशमान् हूँ' आदि के रूप में अभेद बुद्धि का दृढ़ करना ही व्रत है। और जो 'विश्वश्मशान में निरत संवित् को मानता है' वह भी व्रत है। प्रमेय और प्रमाता के स्वभाव का तथा घट—देहादि जडस्वरूप सैकड़ों पदार्थ-शवों से छाये होने से विश्व श्मशान (मुर्दाघाट) है। क्योंकि एक संवित् भगवती ही चेतन है उससे भिन्न उसके द्वारा प्रकाशित यह सब मु र्दे तरह जड हैं, अतः विश्व की श्मशान के साथ समता बताई गई है। इस विश्वश्मशान में जो उत्पत्ति और विनाश के कारण अत्यन्त भीषण है, उसके बीच संवित् पूरी तौर से व्याप्त है, यह जो जान लेता है। व्रत करने वाला श्मशान में रहता है पर यह अलौकिक व्रती है जो 'सर्वत्र मैं ही, एक संवित्तत्व के परमार्थवाला हूँ' यह मानकर जड पशु-प्रमाताओं तथा प्रेत के समान घटादि प्रमेयों के साथ पागल की तरह क्रीड़ा करता हुआ इस संसार की धरती को श्मशान समझता है। और जो 'संवित् को विग्रहरूपी खट्वांग की कल्पना से युक्त मानता है'। अपने शरीर में प्रमातृता के अभिमान का दुराग्रह समाप्त हो जाने से अपने शरीर से परे मानने वाले योगी का संस्कार से बचा हुआ विग्रह मुर्दे के समान होता है, ऐसा समझते हुये अपने शरीर ही खट्वांग[1] की कल्पना करना अर्थात् कंकाल-मुद्रा मानना और उस (मुद्रा) से युक्त संवित् को समझना क्योंकि वह भोग्य का आधार है, (योगी का व्रत है)। श्मशान में रहनेवाला वीरव्रती की खट्वांग-मुद्रा होनी चाहिये अतः स्वसंवित्स्वरूप योगी का अपने शरीर को भी वेद्य होने के कारण भिन्न समझना ही खट्वांगमुद्रा है, यह भी इसका व्रत

१. सांटा या लकड़ी जिसके सिरे पर खोपड़ी जड़ी हो खट्वाँग कहलाता है।

है। तथा 'वेद्य-खप्पर के कपाल को रसियाता'—चर्वणा करता है। यह जो शब्दादि पाँच विषयों के रूप में सभी के द्वारा भोग्य वेद्य-ज्ञेय और कार्य के रूप में अवच्छिन्न है, वह खप्पर के समान है और वही कपाल, खोपड़ी की हड्डी का टुकड़ा है उसे रसियाता है अर्थात् सार खींच कर पूर्ण अहन्ता में विश्राम द्वारा चमत्कार करता है, यह भी व्रत है। व्रती कपाल में रखे हुये वीरपान का रस लेता है, यह बताते हैं : 'विश्व के रसासव' आदि। विश्व में अर्थात् वेद्य शब्दादि पाँच विषयों के कपाल खण्ड में जो सारभाग, चर्वणा के लिये अमृतमय अंश है, वही परमानन्द देने के कारण 'रसासव या उत्तम पान कहलाता है' उससे पूर्ण। यह प्रतिपादित होता है कि पात्र के समान विश्व का जो छिलके वाला कठिन अंश है वही कपाल है उसमें विद्यमान सारांश चमत्कार योग्य है अतः आनन्द देने के कारण पान है। कपाल व्रती के हाथ में होता है अतः बताते हैं : 'अपने हाथ में रखे हुये'। अपने अर्थात् स्वकीय जो 'कर' चक्षु आदि इन्द्रियदेवियों की चेतना किरणें उनमें वेद्य-खण्ड, भोग्य होने से, विषय बन जाता है (अर्थात् सभी वेद्य चेतना की किरणों में भोग्य बन कर रहते हैं)। जैसे हाथ में रखे हुये कपाल से पान किया जाता है उसी प्रकार योगी द्वारा वेद्यखण्ड रूपी कपाल से विश्व का रसासव चक्षु आदि की चेतना की किरणों से, खींचकर, पिया जाता है। आशय यह है कि योगी सदा ही आने के अनुसार पाँचों विषयों को इन्द्रिय-देवताओं से खींच कर युक्ति से अपने चैतन्य भैरव में अनवच्छिन्न विश्रान्ति का सेवन करता हुआ अन्तिम क्षण तक उपदेश के अनुसार अद्वय की दृष्टि का निर्वाह करता है। सद्गुरू के चरणकमलों का सेवन करने वाले इस योगी का यही व्रत है बाकी सब तो शरीर को सुखाना भर है[1] ॥ ८० ॥

अभीतक जो बताया गया है उसका संग्रह करते हुये इस (अद्वय-दृष्टि के) उपदेश की उत्कृष्टता बताते हैं :—

---

१. समदृष्टि से देखना, विश्व को बड़ा होने के कारण श्मशान मानना, शरीर को ही खट्वांग समझना, शब्दादि विषयों को अपनी इन्द्रिय किरणों से लाकर वेद्य-कपाल में उत्तम पान करना योगी के व्रत हैं। ज्ञान-साधना में श्मशान-साधना, खट्वांगमुद्रा, मदिरापान आदि का क्या प्रतीकात्मक अर्थ है यह उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है। वस्तुतः शरीर से बाहर न कोई मन्दिर है और न श्मशान। समग्र साधना का आधार शरीर है। टीकाकार ने तान्त्रिक साधक के व्रतों से अद्वयदर्शन करने वाले के व्रतों की रूपकात्मक तुलना की है, वह अद्वैत की रहस्य-साधना को समझने में पर्याप्त उपयोगी है।

इति जन्मनाशहीनं परमार्थमहेश्वराख्यमुपलभ्य ।
उपलब्धृताप्रकाशात् कृतकृत्यस्तिष्ठति यथेष्टम् ।। ८१ ।।

कारिकार्थ—**इस प्रकार परम तत्त्व महेश्वर को पाकर ज्ञातृत्व का प्रकाशन हो जाने से (वह ज्ञानी) कृतार्थ होकर इच्छानुसार जन्म और नाश से रहित होकर अवस्थित रहता है ।। ८१ ।।**

विवृत्यर्थ—'इस प्रकार' अर्थात् अभी बताये तरीके से प्रतिपादित रहस्य 'परम तत्त्व महेश्वर' या तात्त्विक महेश्वर को 'पाकर' अर्थात् अपने में दृढ़ ज्ञान के द्वारा अनुभव कर जिस (ज्ञानी) की उत्पत्ति और मरण नहीं होता तथा योगी इसे पाकर दूसरे कर्तव्य न रह जाने से परमपुरुषार्थ को सिद्ध कर अपनी इच्छा का अतिक्रमण किये वगैर स्वतन्त्रता से चक्के के घूमने की तरह शरीर को धारण किये हुये 'अवस्थित रहता है' अर्थात् समय का यापन करता है ।[1]

ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर है : 'ज्ञातृत्व का प्रकाशन हो जाने से'—इस रहस्य के परिशीलन से सभी दशाओं में अनुभविता के रूप में 'प्रकाशन' या स्फुरण होता है अतः । इस प्रकार शरीर में रहने पर भी (योगी) पूर्ण आनन्दमय हो जाता है ।। ८१ ।।

जीवों में से जो कोई भी इस प्रकार अपने को समझने लग जाता है वह सब तद्रूप (शिवरूप) हो जाता है । अतः अधिकारी होने का नियम नहीं है, यह बताते हैं :—

व्यापिनमभिहितमित्थं सर्वात्मानं विधूतनानात्वम् ।
निरुपमपरमानन्दं यो वेत्ति स तन्मयो भवति ।। ८२ ।।

कारिकार्थ—**इस तरह से जो व्यापक, सर्वात्मा, अभिहित, नानात्व को मिटाने वाले, निरुपम, परम आनन्द को जो जान लेता है वह तन्मय हो जाता है ।। ८२ ।।**

विवृत्यर्थ—इस तरह से अर्थात् जैसे बता आये हैं उस तरह, व्यापक उपाधिशून्य चित् आनन्द स्वरूप शिव को, जो युक्ति, आगम, तथा अनुभव

---

१. तुलना कीजिए :—
सम्यग् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।
—सांख्यकारिका ६७

के परिशीलन से आवेदित, 'अभिहित', है, जो कोई भी प्राणी जान लेता है वह सब संकोचों को छोड़कर तन्मय, शिवमय हो जाता है। आत्मज्ञान में अधिकारी होने का नियम नहीं है क्योंकि जन्म, मरणादि दोषों से व्याप्त जो पक्षी आदि हैं वे भी सभी स्वात्म-महेश्वर की प्रत्यभिज्ञा से तन्मय हो जाते हैं, यह 'जो' शब्द से द्योतित होता है। कैसे (शिव) को ?– 'सर्वात्मा को'। सभी प्रमाता और प्रमेय जिसकी आत्मा हैं, उस सभी से परे और सर्वमय को। जो कि सर्वदा सर्वत्र चिद्रूप में प्रकाशित होने के कारण भेदों की अनन्तता को मिटा देने वाला (विधूतनानात्वम्) है। इसी प्रकार इच्छा न रहने से जो 'निरुपम' विशेषण रहित और प्रकृष्ट (परम) आनन्द वाला है। इस तरह की आत्मा को जानने वाला कोई भी वह शिवरूप हो जायेगा ॥ ८२ ॥

स्वात्ममहेश्वर को प्राप्त कर लेने वाला (योगी) अपने शरीर का अधिकार विनष्ट होने पर शरीर कहाँ छोड़ेगा, और कहाँ जायेगा, इत्यादि सन्देहों का समाधान करते हैं :—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥ ८३ ॥

कारिकार्थ—**तीर्थ में, चाण्डाल के घर में शरीर को छोड़ता हुआ (योगी) स्मृति का विनाश होने पर भी ज्ञान के साथ ही मुक्त होकर, शोकविहीन हो कैवल्य प्राप्त करता है ॥ ८३ ॥**

विवृत्यर्थ—जिसने अपने स्वरूप का परिशीलन कर लिया है, 'यह सब आत्मप्रकाश का स्वातन्त्र्य है' इस तरह पूर्ण अद्वय की दृष्टि से जिसका हृदय गहरा आश्वस्त हो गया है ऐसा ज्ञानी 'तीर्थ में' प्रयाग, पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि महापुण्यशाली स्थान में अथवा 'चांडाल के घर में' यानी शूद्रजनों के घर से ध्वनित अत्यन्त पापी स्थान में शरीर को छोड़ता है। दोनों (स्थान विशेष के) स्वीकार या परित्याग की विडम्बना से रहित होकर आत्मज्ञान से ही 'कैवल्य प्राप्त करता है' यानी शरीर का विनाश होने से प्रधानादि का जो कार्य और कारण का समूह है उससे भिन्न चिदानन्दस्वरूपिणी तुर्यातीतरूप केवलता को प्राप्त करता है। चूँकि यह सारा विश्व इसे आत्मा से पूर्ण समदृष्टि परमेश्वर से अधिष्ठित दिखता है अतः वह क्षेत्र का भेद नहीं करता। इसीलिये वह विकल्प की शंकाओं से उठने वाले शोक को मिटा देता है। जैसा कि **निर्वाणयोगोत्तर** में कहा है :—

"शिवतत्त्व के ज्ञानी का मरण—हिमालय में, गंगा के मुहाने में, वाराणसी, कुरुक्षेत्र या प्रयाग में हो अथवा चाण्डाल आदि के घर में हो कोई अन्तर नहीं है।" देहपात के समय इसकी स्मृति का भी कोई उपयोग नहीं है, यह बताते हैं : स्मृति का विनाश होने पर भी। 'भी' शब्द का अर्थ है कि स्मृति रहे तो रहे, पर यदि शरीर छोड़ते समय उस (शरीर) से उदित वात, पित्त और कफ से अभिभव के कारण ज्ञानी की स्मृति नष्ट हो जाती है तो काठ और पत्थर के समान हो जाने से आत्मज्ञान भूल जाने पर भी शरीर को अवश होकर छोड़ देता है फिर भी वह पहले प्राप्त आत्म-ज्ञान से युक्त है अतः कैवल्य अवश्य प्राप्त करता है। अतः आत्मज्ञान को पा लेने पर मरते समय स्मरण रहने और न रहने में भेद नहीं है। यह शंका की जा सकती है कि आत्मज्ञानी तीर्थ और अतीर्थ का भेद भले न करे पर यह जो अन्तकाल में स्मृतिविहीन हो जाता है तो इससे तो जिस स्वात्मज्ञान को उसने (कैवल्य का) उपाय बनाया था वही देहपात के समय भूल जाता है तो वह मुक्त कैसे होगा?—गीता में जैसा कि कहा गया है :—

"और जो (पुरुष) मरते समय मुझको ही याद करता हुआ शरीर को छोड़कर जाता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें (कुछ भी) संशय नहीं।" (भगवद्गीता ८-५) इस प्रकार इसमें स्मरण का उपयोग बताया गया है। और यदि परमेश्वर का स्मरण न करने पर भी अन्तकाल में तद्रूप हो जायेगा तब तो सभी पशुजन, मृत्यु के समय, मोहग्रस्त होने पर भी, किसी प्रकार का भेद न होने से परमेश्वर में समाविष्ट हो जायेगा, और इस प्रकार के (गीता के) वाक्य अप्रामाणिक हो जायेंगे?—ऐसा नहीं है, इसका उत्तर है कि वह (योगी) ज्ञान के साथ ही मुक्त हो जाता है। सचमुच इसके लिये स्मरण का उपयोग नहीं है। अपितु सद्गुरु ज्यों ही उसके कान के पास आत्म-महेश्वर के ज्ञान का उपदेश देता है उसी समय 'यह—सब मैं हूँ' इस रूप में आत्म-ज्ञान का परमार्थ प्राप्त करने वाले तथा मायादि कंचुकों को विनष्ट करने वाले ज्ञानी को और किसी (वस्तु) की अपेक्षा नहीं रह जाती है, केवल संस्कारों के शेष रहने के कारण चक्के के घूमने की तरह शरीर को ढोता रहता है। अतः इसके बाद (गुरूपदेश के अन्तर ज्ञानप्राप्त हो जाने पर) उसे स्मरण रखने या न रखने की परे-शानी नहीं रहती। क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न आणव और मायीय कंचुकों से सम्बन्ध रहने पर देह का बंधा हो सकता है, पर स्वात्मज्ञान के उपदेश से अज्ञानजनित कंचुक के नष्ट हो जाने के कारण, देह कंचुक नष्ट प्राय हो

जाता है तो वह अन्त में ज्ञानी को यन्त्रणा कैसे दे सकता है ? अतः स्वात्म-ज्ञान के उपदेश के समय ही वह जीते हुये मुक्त हो जाता है जैसा कि हजार श्लोकों (रत्नों) वाली '**कुलरत्नमालिका**' में कहा गया है : —

'जब सद्गुरु सम्यक् उपदेश दे देता है तो निश्चय ही उसी काल में यह (ज्ञानी) मुक्त हो जाता है, केवल यन्त्र की तरह (शरीर धारण किये) बना रहता है।'

श्रीनिशाटन में भी (कहा गया है) :—

'गौ को दुहने की तरह अथवा आँखों को खोल देने वाले तीर के गिरने की तरह[1] जो एकबारगी परम तत्त्व में मिल जाता है, वह मुक्त हो जाता है और दूसरों को मुक्त करता है।'

'जिसने पहिले ही परब्रह्म में आत्मा को रख दिया है उसे भला प्राणान्त उपस्थित होने पर क्षण को स्मरण कैसे होगा ?'

अथवा, आत्मज्ञानी का अन्तिम क्षण, जिसका एकमात्र साक्षी आत्मानुभव है, का अनुभव किसके द्वारा होता है जिससे कि स्मरण या अस्मरण की कल्पना की जा सके[2] ?

इसीलिये क्योंकि बाद में देखनेवालों को उसका अनुभव नहीं होता ? इसका उत्तर तो सर्वज्ञों से पूछना चाहिये-केवल-शरीर चेष्टा से देह छोड़ने का क्षण शुभ है या अशुभ इसका अनुमान तो किया नहीं जा सकता है।अतः निश्चित ही सदा परमेश्वर के भाव से भावित आत्मज्ञानी को आत्मस्थ परमेश्वर ही मरण के समय उसके अपने काठ और पत्थर के समान शरीर को स्मरण कराता है। जैसा कि कहा है :—

---

१. जैसे गौ के दुहने पर दूध पुनः वापिस नहीं जा सकता अथवातीर जैसे एक बार धँसकर अपना प्रभाव दिखा देता है उसी प्रकार मुक्त व्यक्ति ज्ञान के अनन्तर संसार में पुनः वापस नहीं जाता। गुरु का उपदेश इपात की तरह, उसे तुरन्त मुक्त कर देता है।

२. अर्थात् अन्तिम क्षण का अनुभव योगी ने किया या नहीं इसका निश्चय दूसरों का अनुभव कर सकता है। स्मरण या अस्मरण का साक्षी तो अमा का खुद का अनुभव होता है फिर कैसे कहा जा सकता है कि मुक्तात्माका मृत्यु के समय स्मरण होता है या नहीं।

'स्वस्थ चेष्टावाले जो मनुष्य, हे नारद, मेरा स्मरण करते हैं, काष्ठ और पाषाण के समान उनका मैं अन्त में स्मरण करता हूं।'

तथा भगवान् ने **लक्ष्मीसंहिता** में कहा है :—

'चित्त के स्थिर और शरीर के भलीभाँति सुस्थ रहने पर जो मनुष्य धातुओं (वात, पित्त, कफ) के साम्य की स्थिति में मेरे विश्व-रूप का स्मरण करता है। और उसके बाद मरनेवाले, काठ और पत्थर के समान मेरे उस भक्त का मैं स्मरण करता हूँ और परमगति देता हूं।'

इस प्रकार सदा उस (परमेश्वर) के भाव से भावित रहना ही (मुक्ति का) हेतु है, अथवा पूर्वानुभव के संस्कार की दृढ़ता के बिना अन्त में स्मरण भी न होगा। अतः मरण के समय ज्ञानी को किसी का उपयोग नहीं है ॥ ८३ ॥

अगर इस तरह, तीर्थ आदि का सेवन कहीं भी अंग नहीं बनता (अर्थात् अमुखरूप में भी काम में नहीं आता) तो विद्वान् उनका सेवन क्यों करते हैं? इसका विषयभेद बताते हैं :—

पुण्याय तीर्थसेवा निरयाय श्वपचसदननिधनगतिः ।
पुण्यापुण्यकलङ्कस्पर्शाभावे तु किं तेन ॥ ८४ ॥

कारिकार्थ—**तीर्थ का सेवन पुण्य के लिये और चाण्डाल के घर में मरने की गति नरक के लिये होती है पर पुण्य और पाप के कलंक का स्पर्श न होने पर उससे क्या लाभ ? ॥ ८४ ॥**

विवृत्यर्थ—ज्ञानी होने पर भी जिनका देहादि के प्रमाता होने का अभिमान अभी गला नहीं है, और आत्म-ज्ञान के परिशीलन में जिन्हें वैसा आस्वाद नहीं मिलता, वे इष्टापूर्त (यज्ञादिक पुण्यकार्यों का अनुष्ठान) से धर्मसंग्रह करें, अथवा अधर्मसंग्रह उनके लिये प्रयाग आदि 'तीर्थों की सेवा' अन्तकाल में क्षेत्र में रहना, पुण्य अर्थात् उत्तम लोक की प्राप्ति निश्चित करायेगा। उसी प्रकार 'चाण्डाल के घर से मरने की गति'-'चाण्डाल के घर' से अभिप्राय किसी पापी स्थान से है उसमें 'मरने की गति' अर्थात् विनाश की प्राप्ति उनके अवीचि आदि नरक में गिरने के लिये क्यों कर न होगी ? क्योंकि इनमें देह को प्रमाता मानने का ज्ञान विद्यमान है। मरणस्थान के अनुरूप भोग-भोग कर शुभ और अशुभ देह में (वे) पैदा होते और फिर मरते रहते हैं। देहादि में आत्मा का अभिमान करने वाले सदा जन्म और मरण में बंधे रहते हैं तथा इसी प्रकार के (पुण्यापुण्य-

शाली) होते हैं। पर जिसका स्वात्मज्ञान का परिशीलन दृढ़ हो जाने से देहादि में प्रमाता होने का अभिमान पूरी तौर से गल गया है, ऐसे चिदाकाशस्वरूप के लिये धर्माधर्मस्वभाव की वासनाओं का स्पर्श नष्ट हो जाने पर उन (धर्माधर्मादि) से क्या प्रयोजन ? अतः जिस कारण से शुभा-शुभ कर्म करने वालों के लिये तीर्थादि का सेवन होता है इस तीर्थादि सेवन का मल रहित ज्ञानी के लिये कोई उपयोग नहीं है। जैसा कि मनु के धर्मशास्त्र में कहा गया है :—

'विवस्वान् के पुत्र राजा यम जो तुम्हारे हृदय में स्थित हैं, यदि उससे कोई विवाद नहीं है तो न गंगा जाओ और न गया।'

इसमें देह में आत्माभिमान ही हृदयवर्ती यम है, पूर्ण आत्म-महेश्वर को प्राप्त कर जो उसे (अभिमान को) खत्म कर देता है, उसका तीर्थादि-सेवन का प्रयत्न व्यर्थ है। यह है सिद्धान्त ॥ ८४ ॥

शंका : पहले बताया गया है कि जैसे ज्ञान से आणव, मायीय तथा कार्ममलों को जला देने वाली आत्मा देह के विनाश के बाद अपने स्वरूप में स्थित रहती है, पुनः संसार को अंकुरित नहीं करती जैसे कि जला हुआ बीज अंकुर (नहीं पैदा करता)। स्वात्मज्ञान के उत्पन्न होने के साथ यदि देहरूपी कंचुक नष्ट हो जाता है तो बाद में (भवांकुरका) विधान नहीं होगा। पर देहादिरूपी कंचुक के विद्यमान रहने पर वह (आत्मा) उसके धर्मों से व्याप्त क्यों कर न होगी, और यदि उससे व्याप्त हो जाती है तो मरकर संसारी क्यों न होगी ?—इस आक्षेप का परिहार करते हैं :—

तुषकम्बुकसुपृथक्कृततण्डुलकणतुषदलान्तरक्षेपः ।
तण्डुलकणस्य कुरुते न पुनस्तद्रूपतादात्म्यम् ॥ ८५ ॥
तद्वत् कञ्चुकपटलीपृथक्कृता संविदत्र संस्कारात् ।
तिष्ठन्त्यपि मुक्तात्मा तत्स्पर्शविवर्जिता भवति ॥ ८६ ॥

कारिकार्थ - **तुष और कंबुक[1] से भली भाँति अलग किये हुये चावल के दाने को तुषदल के भीतर डाल देना चावल के दाने का फिर उसी रूप में तादात्म्य नहीं पैदा करता है, (८५) उसी रूप में कंचुकों के समूह से**

१. चावल का बाहरी और भीतरी छिलका या भुसी।

अलग की हुई संवित् इस (कंचुक समूह) में संस्कार के कारण रहने पर भी (मुक्त होकर) उसके स्पर्श से पृथक् रहती है ॥ ८६ ॥

विवृत्यर्थ--तुष और कंबुक से भलीभाँति अलग किये हुये, विश्लिष्ट, चावल के दाने को पहले की तरह वहीं रख दिया जाये तो वह 'तुष दल के भीतर डाल देना' जिस प्रकार चावल के दाने के साथ उसी रूप में, अंकुर पैदा करने की योग्यता के रूप में, होने पर भी, तादात्म्य, गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता अपितु वे (दोनों) तुष चावल लोह की छड़ की तरह अलग ही रहते हैं, एक कार्य को उत्पन्न करने में तत्पर नहीं होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी की यह संवित्, चेतना, कंचुकों के समूह', आणव आदि कंचुकों के समूह से 'अलग की हुई होने पर भी' 'मैं ही स्वात्म महेश्वर हूं जो विश्व के रूप में सदा सभी जगह प्रकाशमान हूं' इस प्रकार स्वात्मज्ञान से परिशीलन को दृढ़ बनाने से अलग की गई हुई इस कंचुकसमूह में कुछ समय तक शेष आचार से देहरूप में रहती हुई, मुक्त होकर बन्धन से रहित होकर उस देहादि कंचुक समूह के स्पर्श, पुण्य और पापरूप कार्ममल से जनित उपराग जो संसाररूपी अंकुर को पैदा करने में समर्थ होता है, से रहित हो जाती है जैसे कि तुषरल के भीतर डाला गया तण्डुल अंकुर को उत्पन्न करने के स्पर्श से रहित रहता है। अभिप्राय यह है : संसार का कारण अज्ञान है, स्वात्मज्ञान के उदित हो जाने से जिस योगी का कंचुक नष्ट हो गया है उसकी संवित् संसार का हेतु नहीं बनती है क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न सामग्री पंगु हो जाती है। और न शेष जीवन के लिये संस्कार के कारण रहने वाला देहकंचुक का यह बन्धन, जिसका अज्ञानरूपी मल ज्ञानाग्नि से जला दिया जाता है, अपने में विशेषताओं के आविर्भाव से संसार को अंकुरित करने में भी समर्थ होता है। अतः ज्ञानी जीता हुआ ही तुरीयरूप होता है और देह न रहने पर तुर्यातीतरूप हो जाता है पर दोनों ही रूपों में संसार की किसी प्रकार आशंका नहीं हो सकती ॥ ८६ ॥

शेष जीवन के लिये जब तक शरीर रहता है तबतक योगी का ज्ञान स्वरूपसाक्षात्कार कर लेने पर भी देह की उपाधिद्वारा किये गये मालिन्य का अंश मौजूद रहने से, अशुद्ध ही है, इसका दृष्टान्त द्वारा परिहार करते हैं :—

कुशलतमशिल्पिकल्पितविमलीभावः समुद्गकोपाधेः ।
मलिनोऽपि मणिरुपाधेर्विच्छेदे स्वच्छपरमार्थः ॥ ८७ ॥

एवं सद्गुरुशासनविमलस्थिति वेदनं तनूपाधेः ।
मुक्तमप्युपाध्यन्तरशून्यमिवाभाति शिवरूपम् ॥ ८८ ॥

कारिकार्थ—**कुशलम शिल्पियों द्वारा किये जाने वाले नैर्मल्यवाली मणि समुद्गक[1] उपाधि से मलिन होने पर भी उपाधि के हट जाने पर निर्मल स्वरूप हो जाती है ॥ ८७ ॥ उसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश से विमलस्थिति वाला ज्ञानी शरीररूपी उपाधि से मुक्त होकर दूसरी उपाधियों से शून्य हो शिवरूप ही[2] प्रकाशित होता है ॥ ८८ ॥**

विवृत्यर्थ—जैसे अत्यन्तनिपुण जौहरी द्वारा निर्मलता चमका दिये जाने पर मणि समुद्गक से युक्त[3] होने के कारण मलिन, धूसरप्राय, होती है पर उसी का जब समुद्ग-उपाधि हटा दी जाती है तो यथावत् निर्मल-स्वरूप हो जाती है। उसी प्रकार यह ज्ञान परिपूर्ण आत्मज्ञान वाले दैशिक श्रेष्ठ (सद्गुरु) शासन अर्थात् स्वात्मज्ञान रहस्य के मुख्य सिद्धान्त का परिशीलन करके मायीय और कार्ममलों के आधारभूत कालिमारूप आणव मल को हटाकर, मौलिक मल के विनाश हो जाने से आकाश स्वरूप हो जाता है। यह ज्ञान शरीररूपी उपाधि, विशेषण से मुक्त, अलग, होकर दूसरे विशेषणों (उपाधियों) के न रहने से शिवरूप ऋह् में प्रकाशित होता है—देह के विनाश से परम शिव के रूप में भासता है। जैसे समुद्गक उपाधि के हट जाने से मणि अपने स्वरूप में प्रकाशित होती है उसी प्रकार अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने से विमल ज्ञान, अशुद्ध माने जाने वाले शरीररूपी उपाधि के नष्ट हो जाने से, विशुद्ध ही भासता है। शंका : जैसे मणि समुद्गक उपाधि से विमुक्त होकर भी दूसरी कोई उपाधि के आ जाने से पुनः समलिन हो जाती है, उसी प्रकार शरीर-रूपी उपाधि से छूट जाने पर भी यदि ज्ञान मणि की भाँति दूसरी उपाधि ग्रहण कर लेता है तो पुनः सोपाधि हो जाने के कारण अशुद्ध ही होगा ? इसका परिहार

---

१. आवरण या ढक्कन, मणि के सन्दर्भ में सीपी।

२. मूल के 'इव' का टीकाकार ने 'एव' अर्थ में ग्रहण किया है, अनुवाद उसी के अनुसार है।

३. यहाँ वृत्ति का पाठ है : 'समुद्गकविश्लिष्टत्वात्' जो मेरी दृष्टि में 'समुद्रकविशिष्टत्वात्' होना चाहिये। संपादक ने ग० और घ० पुस्तकों का यह पाठान्तर भी दिया है। देखिये परमार्थसार पृ० १७० की अन्तिम पाद-टिप्पणी।

है : दूसरी उपाधियों से शून्य—'। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक (दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित विषय) में सर्वथा साम्य नहीं है, क्योंकि शरीर नष्ट होने के बाद महाप्रकाश स्वरूप पूर्ण अद्वयरूप उस ज्ञान के लिए उपाधि के रूप में माना जानेवाला यह सब अपने अंग के समान लगता है अतः उससे भिन्न दूसरी उपाधि न होने से वह (ज्ञान) पुनः दूसरी उपाधियों से उपहित नहीं हो सकता, अतः मणि के साथ उपाधिग्रहण का साम्य नहीं है। शरीररूपी उपाधि का परिग्रह अज्ञानमूलक है, उस (अज्ञान) को यदि अपने ज्ञानरूपी फर से काट दिया गया तो पुनः उपाधि का ग्रहण कैसे होगा ? जैसा कि गीता में कहा है :—

'अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इससे प्राणी मोहित हो रहे हैं।'

—(भगवद्गीता ५।१५)

'परन्तु जिनका वह अन्तःकरण का अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुका है उनका ज्ञान सूर्य के समान उस परम (ब्रह्म) को प्रकाशित करता है।'

—(वहीं ५।१६)

अतः आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने से योगी का आत्मसंवेदन सदा शुद्ध ही रहता है ॥ ८५॥

समग्र उपाधियों की उत्पत्ति में कोई नई चीज नहीं आती है अपितु सही रूप में विचार किये हुये व्यापार वाले मन के संस्कार का विकास ही कारण होता है, यह बताते हैं :—

शास्त्रादिप्रामाण्याद् अविचलितश्रद्धयापि तन्मयताम् ।
प्राप्तः स एव पूर्वं स्वर्गं नरकं मनुष्यत्वम् ॥ ८९ ॥

कारिकार्थ—**शास्त्रादि में प्रामाण्य से अथवा अविचल श्रद्धा से पहले तन्मयता को पाकर (बाद में) स्वर्ग, नरक या मनुष्यत्व को पाता है ॥ ८९ ॥**

विवृत्यर्थ—आगमों की प्रामाणिकता से गुरूपदेश की परम्परा के कथन से, युक्तियों के परिशीलन से, अथवा पहले के संस्कारों से जमी हुई श्रद्धा से आत्मज्ञान इष्टापूर्त अथवा पाशव कर्म का अभ्यास करनेवाला प्रमाता उसी समय उनके संस्कारों के उत्पन्न होने के द्वारा 'तन्मयता' अर्थात् उन-उन अभ्यस्त वस्तुओं के स्वरूप को पा लेता है फिर बाद में देहनाश के बाद वासना के अनुरूप स्वर्ग, निरतिशय प्रीतिनरक, अवीचि[1]

१. नरकविशेष का नाम।

आदि का दुःख मनुष्यत्व, सुख और दुःख दोनों वाले मनुष्यस्वरूप को पा लेता है पर जिसका संस्कार नहीं होता उस पुरुष के सामने देहविनाश के बाद चाहे जो नहीं आ पड़ता है। क्योंकि जिस वासना से जो प्रमाता जिसका अभ्यास करता है वह उसी समय तद्रूप हो जाता और मरण के समय में जो वस्तु स्पष्टतः अभिलषित होती है वह प्रमाता के सामने अभिव्यक्त हो जाती है और इस तरह जिस वस्तु का अभ्यास होता है उसका विपर्यय (उलटा) नहीं होता है और न जिस वस्तु के स्वरूप का अभ्यास नहीं है वह अपूर्व रूप में आ पड़ती है। अस्तु, भाव यह है कि सर्वत्र[1] पूर्वाभ्यास ही कारण होता है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार सदा तद्भावभावित होना (ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करना) ही स्वात्मज्ञानी के लिये देहत्याग के समय, पूर्ण प्रकाश का कारण है, संसार में दिखाई पड़ने वाले पुण्यापुण्यस्वरूप मरण के किसी मौके को स्वर्ग या नरक आदि का कारण नहीं मान लेना चाहिये, यह बताते हैं :—

अन्त्यः क्षणस्तु तस्मिन् पुण्यां पापां च वा स्थितिं पुष्यन् ।

मूढानां सहकारिभावं गच्छति गतौ तु न स हेतुः ॥ ९० ॥

कारिकार्थ—**पुण्य या पाप की स्थिति को पुष्ट करता हुआ अन्तिम क्षण तो मूर्खों का सहकारी बनता है पर उस (ज्ञानी) की गति में वह (अन्तिम क्षण) हेतु नहीं है ॥ ९० ॥**

विवृत्यर्थ—इस प्रकार के ज्ञानी के 'अन्तिम क्षण' देहविनाश के साथ होनेवाले आखिरी समय, का समीप में खड़े हुये प्रमाता धातुदोष के कारण अथवा दुष्ट व्याधि के अनुभव से अनुमान करते हैं कि वह पुण्यवान् या पापमय है पर वह क्षण मूर्खों अर्थात् देह में आत्मा का अभिमान करने वाले प्रमाताओं का ही कारण बनता है। वह (उनका कारण) बने पर जिसने देह में आत्मा का अभिमान पूरी तौर से खत्म कर दिया है और जो आत्म-महेश्वर के परिशीलन में निपुण है ऐसे योगी का वह अन्तिम क्षण गति अर्थात् एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता ॥ ९० ॥

यह कैसे पता चलता है, इसका निदर्शन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:—

---

१. जिसका सबसे अधिक संस्कार होता है उसी का मरण काल में स्मरण होता है।

येऽपि तदात्मत्वेन विदुः पशुपक्षिसरीसृपादयः स्वगतिम्।
तेऽपि पुरातनसंबोधसंस्कृतास्तां गतिं यान्ति ॥ ९१ ॥

कारिकार्थ—**जो भी पशु, पक्षी, सांप आदि अपनी गति को उस समय आत्मा के रूप में जान लेते हैं वे भी प्राचीन चेतना के संस्कारों से युक्त हैं अतः उस (आत्म) गति को पा लेते हैं ॥ ९१ ॥**

विवृत्यर्थ—जो कोई किसी संस्कार के वश से अथवा शापादि के कारण पापयोनि पशु भी बन जाते हैं पर आत्मस्थिति को मरते समय पहिचान लेते हैं वे 'मूढ़' होते हुये भी पहले प्राप्त आत्मज्ञान के संस्कार की जागृति से अनुगृहित होकर आत्मस्थिति को पा लेते हैं। गजेन्द्र मोक्ष आदि (कथाओं) में जैसे हाथी ने पशु होते हुये भी पहले की हुई परमेश्वर भक्ति के संस्कार से जागकर विष्णु भगवान् की स्तुति करके कंचुक को छोड़कर अपने स्वरूप की सम्यक् प्राप्ति कर ली। वहाँ स्मरण का कारण क्या था ? भाव यह है कि शरीर आदि से उठने वाले धातुदोष के कारण काठ और पत्थर की चेष्टा करनेवाला ज्ञानी पुण्य या पाप वानर या बिल्ली आदि के बारे में कुछ भी बड़बड़ाता हुआ देह छोड़ देता है, पर इससे स्वस्थचेष्ट होकर जिस ज्ञानादि का अभ्यास किया था वह समाप्त नहीं हो जाता। शरीरादि के धर्म शरीरादि में ही आ पड़ते हैं पर इससे जिस वस्तु का सदा ध्यान किया है वह नहीं मिट जाते। अस्तु, मरण के क्षण तक सभी अवस्थाओं में (चेतना का) विकास ही परम तत्त्व है। जैसा कि गीता में कहा है :—

'हे कुन्तीपुत्र, अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है उस-उसको ही प्राप्त होता है (यदि) सदा उस भाव का चिन्तन करता रहा है।' (भगवद्गीता ८।६)

तथा :—

'निरन्तर ध्यान में लगे हुये, प्रेमपूर्वक भजन करने वाले उन (भक्तों) को (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'—(वहीं, १०।१०) अस्तु, अन्तःकरण का (परमेश्वर के) ध्यान में लगा होना भी परम गति के देने का कारण है ॥ ९१ ॥

ऊपर बताई दृष्टि के अनुसार सदा परमेश्वर के ध्यान में लगे रहने के अतिरिक्त, ज्ञानी शरीर का विनाश होने पर, नया और कोई

(कारण) नहीं आ सकता है, क्योंकि देह ही विनाशी है, वही मिटती है और फिर वासना अंकुरित नहीं होती, यह प्रतिपादित करते हुये कहते हैं :—

स्वर्गमयो निरयमयस्तदयं देहान्तरालगः पुरुषः ।
तद्भङ्गे स्वौचित्याद् देहान्तरयोगमभ्येति ॥ ९२ ॥
एवं ज्ञानावसरे स्वात्मा सकृदस्य यादृगवभातः ।
तादृश एव तदासौ न देहपातेऽन्यथा भवति ॥ ९३ ॥

कारिकार्थ—अतः देह के भीतर स्थित यह पुरुष स्वर्गमय तथा नरकमय है, उस (शरीर) के नष्ट हो जाने पर अपने औचित्य के अनुसार दूसरे शरीर का संबंध प्राप्त कर लेता है ॥ ९२ ॥

इसी प्रकार ज्ञान के समय में आत्मा जैसी एक बार भी प्रकाशित हो जाती है वह (ज्ञानी) उसी समय वैसा ही हो जाता है, देह के नाश होने पर बदलता नहीं है ॥ ९३ ॥

विवृत्यर्थ—अतः शरीर घटादि में निविष्ट पुरुष अर्थात् कार्ममल से युक्त सभी की आत्मा स्वर्गादि को पाने के लिये पहले किये गये कर्मों के फल की वासना से युक्त अन्तःकरणवाला होकर 'स्वर्गमय' अर्थात् स्वर्गफल की विकसित वासना से युक्त होने के कारण स्वर्गफल का भोक्ता होता है। इसी प्रकार पुराने बुरे कर्मों की वासना से प्ररूढ़ होकर नरकफल का भोक्ता होता है. देह ही दोनों प्रकार के कर्मफलों को भोगने का स्थान है, उसके नष्ट हो जाने पर अपने औचित्य के अनुसार अर्थात् शरीर के नष्ट हो जाने पर अपने में जो संस्कार पड़ गये हैं उनके अनुरूप दूसरे भोग स्थान शरीर के साथ संबन्ध हो जाता है। जिससे आगे चलकर विशिष्ट कर्मफलवासना के द्वारा दिये हुये फलों को भोगना पड़ता है।[1] इसी प्रकार 'ज्ञान के समय में' गुरुद्वारा उपदिष्ट आत्मा के प्रकाशन के समय में उपदेश्य (शिष्य) की आत्मा (चैतन्य) एक बार जैसी प्रकाशित हो जाती है' अर्थात् परिपूर्ण स्वातन्त्र्य स्वरूप में अथवा परिमित परामर्श से युक्त के रूप में, परिमित जिस किसी स्वरूप में ज्ञानी आत्मा को सभी समय जान पाता है उसी रूप में संस्कार अंकुरित होते हैं और आत्मा

१. पुण्य कर्मफलों और अपुण्य कर्मफलों के संस्कार के अनुसार एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर प्राप्त होता रहता है। जैसा संस्कार वैसा शरीर।

वैसा ही प्रकाशित होती है। देह का नाश होने पर पूर्व प्रकाशित आत्मा दूसरे स्वरूप से आच्छादित नहीं हो जाती। जो प्रकाशित हो जाता है वह अप्रकाशित नहीं बनता। अन्यथा कोई भी किसी का अभ्यास ही न करे और इस तरह तो सारे व्यवहार का लोप हो जाये और यह सब भंग हो जायेगा :—

'धर्म से ऊर्ध्व (लोक में) गमन होता है तथा अधर्म से नीचे (पातालादि लोक में)। ज्ञान से अपवर्ग होता है तथा इसके विपरीत (अज्ञान) से बन्धन माना गया है।' (सांख्यकारिका ४४)

अतः मृत्यु के समय शरीर चाहे जैसा भी रहे केवल भीतर विद्यमान वासना का अंकुर ही सभी के बन्धन और मोक्ष का कारण है ॥ ९२–९३ ॥

और यदि धातुवैषम्य से शरीर में मरण की पीडा पाई जाती है तो इतने से अभ्यास के प्ररोह में कोई हानि नहीं है। वह पूर्व प्रतिपादित स्थिति को ही प्राप्त करा देते हैं :—

करणगणसंप्रमोषः स्मृतिनाशः श्वासकलिलताच्छेदः ।
मर्मसु रुजाविशेषाः शरीरसंस्कारजो भोगः ॥ ९४ ॥

स कथं विग्रहयोगे सति न भवेत्तेन मोहयोगेऽपि ।
मरणावसरे ज्ञानी न च्यवते स्वात्मपरमार्थात् ॥ ९५ ॥

कारिकार्थ—**इन्द्रिय-गण का अपहरण, स्मृति का नाश, सांस का अवरोध, मर्मों का टूटना, विशेष रोग, शरीर के संस्कार से उत्पन्न भोग है ॥ ९४ ॥**

यह (भोग) शरीर से संबन्ध रहने पर ज्ञानी को क्योंकर न होगा, अतः (शरीर संबन्धी) अज्ञान के रहने पर भी मरते समय ज्ञानी स्वात्मा के परमार्थ से च्युत नहीं होता है ॥९५॥

विवृत्यर्थ—बाहरी और भीतरी तरह इन्द्रियगण[१] का सम्यक् प्रमोष या स्वरूप की हानि जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रियों का रूपादि विषयों के आलोचन में समर्थ नहीं हो पाते और इसी तरह वाक् आदि कर्मेन्द्रियां वचन, आदान आदि में प्रवृत्त नहीं होते, न बुद्धि अर्थ का यथार्थ अध्यवसाय

१. मन, बुद्धि, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय।

कर पाती है, मन का स्थिर न रहना अहंकार का बीच बीच में संस्कार रूप में रहना। तथा स्मृति का नाश या अनुभूत विषय का याद न आना। बन्धुओं द्वारा प्रार्थित होने पर भी मुमूर्षु आगे रखी हुई वस्तु को, सैकड़ों बार अनुभव होने पर भी, पहिचान नहीं पाता। अतः ऐसे को ईश्वर के स्वरूप का सदा ध्यान किये बगैर ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन या अन्तकाल में दान देना या और कुछ उस (मरण की) अवस्था में आकाश-चित्र की भांति चित्त में जमता नहीं है किन्तु उसे इतिकर्तव्यतामात्र समझ कर करना चाहिये, यह आदेश है। इसी प्रकार सांस अर्थात् कण्ठस्थ वायु का अवरोध (कलिलता) अर्थात्, कण्ठ देश में हकलाना या हिचकी आना। और मर्मों का टूटना-हड्डियों के जोड़ में टूटना। तथा विशेष रोग-ज्वर, पेचिश आदि। इस प्रकार शरीर अर्थात् भूतकंचुक के वात, पित्त और कफ धातुओं के वैषम्य से 'शरीर के संस्कारसे उत्पन्न भोग' अर्थात् देहज दुःख का अनुभव कहलाता है। यह (भोग) शरीर के साथ संबन्ध रहने पर ज्ञानी को क्यों न होगा ? होगा ही। इस कारण से ज्ञानी देहादि में अभिमान को सदा दबा कर स्वात्ममहेश्वर के स्वरूप में समाविष्ट हो, मरण के क्षण में उत्पन्न शरीर संबन्धी अज्ञान से""""संबन्ध रहने पर भी 'स्वात्मा के ·····परमार्थ से' अर्थात् चैतन्य के प्ररूढ़ प्रत्यवमर्शस्वरूप से च्युत नहीं होता, बदलता नहीं। चूँकि देह के संबन्ध को तिरस्कृत करने वाले योगी उस (शरीर) से उत्पन्न भोग के साथ तन्मय नहीं बनाया जा सकता, भले ही लोक के समान देह के नाश के बाद आराम न पाये पर इतने से उस स्वस्थहृदय और अपने संकल्प के अनुसार स्वस्थ चेष्टावाले तथा भगवद्भक्ति का अध्यास कर लेने वाले योगी के सामने कोई नई बात नहीं आ पड़ती, अतः, ज्ञानी आत्मज्ञान के साथ ही मुक्त हो जाता है शरीर का संस्कार इसे बन्धन में नहीं डाल सकता, यह बात सैकड़ों बार पहिले बताई जा चुकी है। पर जो सदा देह में आत्मा का अभिमान करता है और पुण्य-पापमय है वह देह के संस्कारों से उत्पन्न सुखदुःखादि के भोग से पैदा होने वाली तन्मयता को क्यों कर न प्राप्त करेगा ? जैसा कि कहा है :—

'जब जीवात्मा सत्त्व गुण की वृद्धि-होने पर मृत्यु पाता है तब तो उत्तम (परम) को जानने वालों के मलरहित (दिव्य) लोकों को पहुँचता है।'

—(भगवद्गीता १४।१४)

सत्त्वादि गुण प्रकृति के धर्म हैं अतः तन्मय का ही नियन्त्रण कर सकते हैं पर जो इनका भेदरूप में ज्ञान (विवेकज्ञान) प्राप्त कर लेते हैं

उनके लिये ये कुछ भी नहीं हैं, अतः ज्ञानी का मार्ग अलग ही है। पर जिन पशुप्रमाताओं ने गुरुचरणों को देखा नहीं है (सेवा नहीं की है) वे अपने में विद्यमान धर्मों को दूसरों में लगाते हैं। जैसे कि (कहते हैं) कि अगर यह ज्ञानी होता तो भला व्याधि आदि से पीडित हो क्यों भोग रहा है और क्यों पहिनता-ओढ़ता है, अथवा मरते समय जड़ क्यों हो गया था, उसे याद कुछ भी क्यों नहीं आया था। इस तरह बहुत तरीकों से अविद्या से उपहत होने के कारण वाद-विवाद करने वालों को कैसे समझायें। अगर यह ज्ञानी है और देहधर्म और संस्कार से मुक्त है तो इससे उसका (ज्ञानी का) क्या दोष हुआ ? विभिन्न अवस्थाओं में विचित्र होने पर भी ज्ञानी का आत्म-प्रकाश-आत्मप्रकाश ही है आत्मा के अनुभविता के रूप का लोप होता नहीं है जिससे कि ज्ञान नष्ट हो जाये। पूर्ण ६ गुणों की महिमावाले भगवान् वासुदेव ने कृष्णावतार में व्याध के बाण की चोट से पीड़ित होकर भूत-शरीर को छोड़ा था। इससे क्या उस जगदीश्वर के स्वरूप का विप्रलोप हो गया ? अतः कीट से लेकर सदाशिव तक (सभी का) देहसंस्कार तो ऐसा ही होता है किन्तु एक की देह आत्म-विमर्श से युक्त होती है दूसरे (अज्ञानी) को देहादि में आत्मा का अभिभाव होता है। यही दोनों (ज्ञानी तथा अज्ञानी) का भेद है। अतः ज्ञानी और अज्ञानी के शरीर धर्म तो समान ही होते हैं पर इतने से फल में समता नहीं होती। यही गीता में कहा है :—

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति अनुसार चेष्टा करता है, (सभी) प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, निग्रह क्या करेगा ?–(भगवद्गीता ३।३३)॥९५॥

अब, अक्रम (तुरन्त) और क्रम से ज्ञानयोग के परिशीलन में विचित्र शक्तिपात ही कारण है, यह प्रतिपादित करते हुये फलभेद बताते हैं :—

परमार्थमार्गमेनं झटिति यदा गुरुमुखात् समभ्येति ।
अतितीव्रशक्तिपातात् तदैव निर्विघ्नमेव शिवः ॥ ९६ ॥

कारिकार्थ—**जब गुरु के मुख से इस परमार्थ मार्ग को तुरन्त अत्यन्त तीव्र शक्तिपात से पा लेता है तो उसी समय बिना विघ्न के शिव हो जाता है** ॥९६॥

विवृत्यर्थ—जिस समय भी पश्चिम जन्मा मनुष्य गुरुमुख, श्रेष्ठ दैक्षिक के मुंह से 'इस' शतशः प्रतिपादित परमार्थमार्ग, पूर्णस्वातन्त्र्य-स्वरूप-स्वात्म-ज्ञान की ओर उन्मुख करनेवाले शास्त्रीय रहस्य के रास्ते को जो कोई भी पा लेता है, वह उसी समय, उसी काल में, अर्थात् गुरुउपदेश के

साथ ही बिना किसी अन्तराय के शिव ही हो जाता है। जैसा कि **श्रीकुल** में कहा है :—

'हेला से अथवा क्रीड़ा से अथवा आदर से तत्त्वज्ञानी (गुरु) जिस पर भी दृष्टि डलवा देता है, प्रिये, वह उसीक्षण मुक्त हो जाता है।'

प्रश्न—इस प्रकार का (गुरु के) मुख से आम्नाय का रहस्य मिलेगा कैसे ? इसका उत्तर है—'अत्यन्त तीव्र शक्तिपात से'। अत्यन्त तीव्र अर्थात् कर्कश जो अनुग्रह नायिका पारमेश्वरी शक्ति का पात अर्थात् पशु के हृदय कमल में अवतरण, जिससे कि पशु भी गुरु द्वारा बताये सिद्धान्त के ज्ञान से शिव हो जाता है—जीते हुये ही मुक्त हो जाता है। जैसे तांबे का द्रव्य सिद्धरस के पात से सुवर्ण बन जाता है। अर्थ यह है कि परमेश्वर के अनुग्रहरूप उपाय से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, अतः इस (मुक्ति) में नियति शक्ति से उत्पन्न जप, ध्यान यज्ञादि उपाय नहीं बन पाते। जिसका हृदय परमेश्वर के अनुग्रह से बिंध जाता है उसके हृदय को तो हठ से, बिना किसी क्रम के, देवता के मुख से प्राप्त आम्नाय का रहस्य आकर्षित कर लेता है जिससे वह (साधक) तुरन्त ही परमेश्वर बन जाता है। अतः परमेश्वर का शक्तिपात विलक्षण है, उसके बारे में शंका नहीं की जा सकती है ॥९६॥

जिस पर शक्तिपात मध्य, मन्द, मन्दतर आदि भेद से (अर्थात् अक्रम और झटिति नहीं) होता है उसे गुरु के उपदेश का मरने के क्षण तक योगानुसार विमर्श करते रहने से देहपात के बाद, शिवत्व प्राप्त होता है, यह प्रतिपादित करते हैं :—

सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥ ९७ ॥

कारिकार्थ—**सर्वोत्तीर्ण स्वरूपका, सीढ़ी पर चढ़ने की तरह, साक्षात्कार करते हुये परम तत्त्व का प्ररोह पा लेने पर अन्त में शिवमयता हो जाती है ।९७॥**

विवृत्यर्थ—शक्तिपात के मन्द होने के कारण पूर्ण ज्ञान का उपदेश न पाने से 'सर्वोत्तीर्ण स्वरूप,' सभी तत्त्वों के अन्त में स्थित स्वभाव का सोपान-क्रम से साक्षात्कार से हुये–कन्द (उपस्थ), नाभि, हृदय, कण्ठ, लंपिका (जिह्वा), बिन्दु, नाद, शक्ति ये सोपान हैं जिसके ऊपर चढ़ने के लिये सीर्थ (सिद्धान्त) ही उनके 'पद' अर्थात् (उस स्थान की) प्राप्ति

है। छोड़ने और ग्रहण करने वाले क्रम से अभिप्राय है धीरे धीरे कन्द में फिर नाभि में फिर हृदय में, इस प्रकार चढ़ना। जब तक परमार्थ प्ररोह हो जाने पर देह के नाश के समय उस योगी को क्रमशः शिवस्वभाव स्थिति हों जाती है। यह क्रममुक्ति कही जाती है ॥९७॥

क्रमयोंग का अभ्यास करनेवाले योगी के आश्वस्त होने पर भी वैसी (अनुकूल) सिद्धि न हों, और अभीष्ट प्राप्ति में विघ्न पैदा हो जाता है और यदि तत्त्व को बिना पाये मरण हो जाता है तो क्या होगा ?

इस शंका का समाधान करते हैं :—

तस्य तु परमार्थमयीं धारामगतस्य मध्यविश्रान्तेः ।
तत्पदलाभोत्सुकचेतसोऽपि मरणं कदाचित्स्यात् ॥ ९८ ॥
योगभ्रष्टः शास्त्रे कथितोऽसौ चित्रभोगभुवनपतिः ।
विश्रान्तिस्थानवशाद् भूत्वा जन्मान्तरे शिवीभवति ॥ ९९ ॥

कारिकार्थ—**बीच में रुक जाने से परमार्थमयी धारा को न पाने वाले उस (योगी) का इस (परमार्थ) पद को पाने के लिये मन के उत्सुक होते हुये भी, यदि कदाचित् मरण हो जाये ॥ ९८ ॥ तो वह शास्त्र में योगभ्रष्ट कहा गया है, चित्रभोग वाले भुवनों का ईश्वर वह विश्रान्ति-स्थान के सामर्थ्य से दूसरे जन्म में पैदा होकर शिव हो जाता है ॥ ९९ ॥**

विवृत्यर्थ—इस प्रकार उल्लंघन-क्रम से (सोपानक्रम से भिन्न) योग का अभ्यास करने वाला किसी विघ्न से मध्य में विश्रान्त हो जाता है अर्थात् किसी चक्राधार में अनुभव को पाकर वही सन्तोष पा लेता है और इस कारण 'परमार्थमयी' धारा को न ही पा पाता 'अर्थात् जिस सभी से परे परतत्त्वदशा को पाने की प्रतिज्ञा की थी उसे नहीं पा पाता अथवा उस पद, प्रतिज्ञात परमार्थ, को पाने की मन में अभिलाषा होते हुये भी कभी बीच में विपत्ति आ सकती है तो प्राप्ति को न पाने वाले इस (योगी) की क्या गति होगी ? इसका उत्तर है :—शास्त्र अर्थात् आगम ग्रन्थ में योगभ्रष्ट आदि। वह योग, समाधि, से दोनों तरह से भ्रष्ट चलित, कहा गया है। वह कैसा बनेगा ? इसका उत्तर है 'चित्र' आदि। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद चित्रभोग वाले जिसमें विचित्र सभी, अन्न, पान, माला, वस्त्र, अनुलेपन, गीत, वाद्य आदि प्रधान है, भुवनों 'अपनी विश्रान्ति (योगसाधन-) में रुकने के' अनुरूप तत्त्व के ईश्वर के लोकों का पति

अर्थात् ईश्वर (मालिक) बनता है और मरने के साथ ही दिव्य भोग पा जाता है ।

उक्त (भुवनों के) भोग का अधिकार समाप्त हो जाने पर वह पुनः योगभ्रष्ट कैसे होगा ? इसका उत्तर है : विश्रान्ति आदि स्थान अर्थात् कन्दादि प्रदेश में अभ्यास के संस्कार से उत्पन्न प्रबोध के सामर्थ्य से (अर्थात् योग साधना करते समय जिस कन्द, नाभि, हृदय आदि स्थान विशेष में चित्त को स्थिर किया था उस विश्रान्ति स्थान के संस्कार के अनुरूप) जन्मान्तर या दूसरे जन्म में पुन""संसार में योगाभ्यास के योग्य अधिकारी शरीर को पाकर पहले अभ्यस्त योग को प्रयासपूर्वक स्वीकार कर पूर्व जन्म में प्रतिज्ञात परमार्थ-दशा को आसानी से पाकर शरीर के विनाश के अनन्तर शिव ही हो जाता है ॥ ९९ ॥

योग के अभ्यास में लगे हुये योगी को जिसे मन की चंचलता के कारण थोड़ी भी विश्रान्ति किसी एक देश में भी नहीं मिल पाती पर जिसकी योग में श्रद्धा रहती है उसकी क्या दशा होगी ?—यह बताते हैं :—

परमार्थमार्गमेनं ह्यभ्यस्याप्राप्य योगमपि नाम ।
सुरलोकभोगभागी मुदितमना मोदते सुचिरम् ॥१००॥
विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा ।
भुवनेषु सर्वदेवैर्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः ॥१०१॥

कारिकार्थ—**इस परमार्थपथ का अभ्यास करके भी योग को न पानेवाला सुरलोक के भोगों का भागी बनकर प्रसन्न मन वाला (योगी) बहुत काल तक आनन्द लेता है ॥ १०० ॥**

जैसे सार्वभौम राजा (विभिन्न) मण्डलों में सभी लोगों द्वारा पूजा जाता है, उसी प्रकार योगभ्रष्ट भुवनों में सभी देवताओं द्वारा पूज्य है ॥ १०१ ॥

विवृत्यर्थ—शतशः प्रतिपादित स्वात्मज्ञानस्वरूप इस (परमार्थ) मार्ग का श्रद्धा और भक्ति से 'अभ्यास', सेवन करके भी चित्त के दोष अनवस्थान (चंचलता या अस्थिरता) से उचित योगस्वरूप विश्रान्ति (चित्तवृत्तिस्थैर्य) को जीतेजी न पाकर अगर मर जाता है तो वह योग-भ्रष्ट ज्ञानयोग के संबन्ध में प्ररूढ़ श्रद्धा और भक्ति के सामर्थ्य से देवलोकों के भोग भोगता हुआ प्रसन्नचित होकर बहुत समय तक आनन्दित रहता

है, देवताओं द्वारा भुवनों, अपने-अपने लोकों में-पूज्य भी होता है। किसकी तरह ? इसका उत्तर है 'सार्व'...। जैसे सार्वभौम, सातों द्वीपों का मालिक चक्रवर्ती राजा विभिन्न विषयों, मण्डलों में सभी जनों द्वारा पूजित, अर्चित, होता है उसी प्रकार जिसके पुण्य-अपुण्य विषय क्षीण हो गये हैं, जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है अन्तिम बार जन्मा यह हम सबका वन्दनीय हो जाता है, जिसने पूर्वजन्म में स्वात्मजिज्ञासा के लिये उद्योग किया था, इस तरह देवता भी उसकी स्तुति करते हैं[1]।। १००-१०१ ।।

दूसरे लोकों के भोग का अधिकार पूरा होने के बाद उस योगी का क्या होता है ? इसे बताते हैं :—

महता कालेन पुनर्मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यस्मादावर्तते न पुनः ॥१०२॥

कारिकार्थ—**और फिर बहुत समय के बाद मनुष्य रूप पाकर योग का अभ्यास करके दिव्य अमृत को प्राप्त करता है जिससे वापिस नहीं आता**[2] ॥ १०२ ॥

विवृत्यर्थ—जैसा कि बता आये हैं उसके देवलोकों—भोगों को भोग कर चिरकाल से वह योगभ्रष्ट इस संसार में मनुष्य के रूप में आकर योगाभ्यास की साधना के लायक शरीर को पा कर पूर्वजन्म में मन की चंचलता के कारण जो योग मिलना कठिन हो गया था उसी योग को पूर्वजन्म में

---

१. गीता के इस सन्दर्भ में कुछ श्लोक तुलनार्थ उल्लेखनीय हैं :—

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संसिद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥

—भगवद्गीता ६।४१-४५

२. तुलना कीजिए :—

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते **न च पुनरावर्तते।**

उत्पन्न भक्ति और श्रद्धा से विकसित योगवासना से संस्कारों को अनायास जगा कर उस योग का अभ्यास करके देहान्त होने पर 'दिव्य अमृत' अर्थात् परम तत्त्व के स्वरूप को पा लेता है, परम स्वरूप के साथ दृढ़ता हो जाती है। इसी लिये वह (इस संसार में) पुनः वापिस नहीं आता। अतः महान् कल्याण स्वरूप स्वात्मज्ञान के विषय का थोड़ा भी परिशीलन संसार में घूमने के लिये नहीं होता है। जैसा कि गीता में कहा है :—

'इस (योग) में किये हुये का नाश नहीं होता विपरीत फल भी नहीं होता है अतः इस धर्म का थोडा भी (साधन) महान् भय से बचा लेता है।'　—(भगवद्गीता, २।४०)

तथा :—

'हे कृष्ण, जिसका मन योग से टूट गया है, शिथिल यत्नवाला, श्रद्धायुक्त (साधक) योग की सिद्धि को न पाकर (किस गति को पाता है) ?'—(भगवद्गीता, ६।३७) इस प्रश्न से शुरू करके।

'अनेक जन्मों में सिद्धि को पाने वाला (वह योगभ्रष्ट) उसके बाद परम गति को पाता है।'　—(भगवद्गीता ६।४५)

यहाँ तक उत्तर का मुनि (व्यास) द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थ (गीता) का भी (इस प्रसंग में) ध्यान रखना चाहिये[1] ॥ १०५ ॥

इस प्रकार इस ज्ञानयोग के क्रम का जो भी प्राणी थोड़ा भी स्पर्श पा लेता है उसकी विभूतियों का इतना प्रकर्ष हो जाता है कि कहाँ नहीं जा सकता। अतः विवेक से आर्द्र हृदय वालों को जन्म और मरण को दूर करने में सर्वात्मना सावधान रहना चाहिये, यह निरूपण करते हैं :—

तस्मात् सन्मार्गेऽस्मिन् निरतो यः कश्चिदेति स शिवत्वम् ।
इति मत्वा परमार्थे यथातथापि प्रयतनीयम् ॥१०३॥

कारिकार्थ—**अतः इस सन्मार्ग में जो निरत रहता है वह शिवत्व प्राप्त करता है, यह मानकर परमार्थ में जैसे भी हो वैसे लगा रहना चाहिये ॥ १०३॥**

विवृत्यर्थ—चूँकि आत्म-परिशीलन की साधना प्रतिपादित क्रम के कारण उत्तम फल देती है अतः इस सुन्दर मार्ग, प्रकृष्ट मुक्ति को दिलाने वाले रास्ते में 'जो कोई भी लगा रहता है' अर्थात् अधिकारी होने का कोई नियम नहीं है, अतः जन्म और मृत्यु की सैकड़ों व्याधियों और कष्टों से

---

१. इसके पूर्व पाद-टिप्पणी में अपेक्षित सन्दर्भ में समस्त श्लोक उद्धृत कर दिये गये हैं।

पीड़ित कोई भी प्राणी विवेक-बुद्धि से पूरी तौर से लगा रहता है, श्रद्धापूर्वक उसी में डूबा रहता है वह प्राणी शीघ्र ही 'शिवत्व प्राप्त करता है' संसार के सारे कष्टों को झाड़कर परम कल्याण मयी गति को एक ही जन्म में पा लेता है। जैसा कि **शिवधर्मोत्तर शास्त्र** में (कहा गया है) :--

'इस संसार में एक ही जन्म में होने वाली मुक्ति का अनुसंधान करना चाहिये, आप की अनेक जन्मों में होने वाली मुक्ति को कौन टाल रहा है ?' इस प्रकार मानकर या विचार कर जिस किसी तरीके से हो (मुक्ति पाने की) पूरी कोशिश करनी चाहिये। 'प्रमुख में किया गया परिश्रम फल देता है' अतः इसमें थोड़ा भी घमंड नहीं करना चाहिए। ताकि यदि योगाभ्यास से आत्म-सिद्धि उत्पन्न हो जाये तो हमारा चाहा मिल जावेगा, नहीं तो दिव्य लोकों की प्राप्ति होगी है। और उन (लोकों) से लौटने वाले को पूर्व जन्म में अभ्यस्त योग वासना के जागरण के बल से पुनः योग के साथ संबन्ध हो जायेगा अतः कल्याण के मार्ग का परिशीलन करने से करने वालों को उल्टा कुछ नहीं आ पड़ता है। अस्तु, पुरुषार्थ की साधना में थोड़ा भी घमंड नहीं करना चाहिये ॥१०३॥

इस प्रकार शेष भगवान् द्वारा बताये हुये परमार्थ-सार के उपदेश को, शिवाद्वय शासन (त्रिक दर्शन) के अनुसार, युक्ति, अनुभव और आगम से समन्वित रूप में प्रतिपादित कर स्वान्तःसुख की कामना से अपने नाम का उल्लेख करते हुये 'यही उपदेश परम पुरुषार्थ को पाने का उपाय है' यह निरूपण करते हुये ग्रन्थार्थ का उपसंहार करते हैं :—

इदमभिनवगुप्तोदितसंक्षेपं ध्यायतः परं ब्रह्म।
अचिरादेव शिवत्वं निजहृदयावेशमभ्येति ॥१०४॥

कारिकार्थ—**इस परम ब्रह्म का ध्यान करते हुये, जिसका सार अभिनवगुप्त ने बताया है, शीघ्र ही शिवत्व को अपने हृदय में समावेश के द्वारा प्राप्त करता है ।१०४॥**

विवृत्यर्थ--श्री महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त विरचित **परमार्थ सार** समाप्त हुआ। विस्तार से प्रतिपादित 'इस' व्यापक ब्रह्म का, जो विस्तार करने के कारण परिपूर्ण आनन्दमय है तथा स्वात्मस्वरूप है और 'परम' अर्थात् प्रकृष्ट है, ध्यान करते हुये अर्थात् आसानी से अपने में परिशीलन करते हुये प्राणी का शीघ्र ही, न कि बहुतेरे जन्मों के बाद शिवत्व प्राप्त होता है अर्थात् निःश्रेयस की प्राप्ति हो जाती है। किस तरह ? अपने हृदय मे समावेश के द्वारा अपना हृदय ही परामर्श (प्रत्यवमर्श या परि-

शीलन) का स्थान है उसी में अनुप्रविष्ट होकर। वह ब्रह्म कैसा है ?– जिसका सार, तात्पर्य, यशस्वी नामतः अभिनवगुप्त द्वारा प्रकाशित है। नाम (अभिनवगुप्त) के व्याज से यह भी मन्तव्य प्रकाशित होता है : परम ब्रह्म का जो गूढ़ रहस्य अभिनव अर्थात् दूसरों के द्वारा अदृष्ट और गुप्त, ढँका हुआ था, उसके संक्षेप का प्रतिपादन यहाँ हुआ है, ऐसा वह ब्रह्म है। इस प्रकार कहकर उपदेश की दुर्लभता का निरूपण किया गया है।१०४॥

ग्रन्थ का परिमाण (विस्तार) बताते हुये इस प्रकरण के कर्तृत्व को बताते हैं :—

आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम्।
अभिनवगुप्तेन मया शिवचरणस्मरणदीप्तेन ॥१०५॥

कारिकार्थ—**अस्तु, इस अत्यन्त गूढ शास्त्र के सार को शिवचरणों के स्मरण से दीप्त मुझ अभिनवगुप्त ने सौ आर्याओं में बताया है।१०५॥**

विवृत्यर्थ—बहुत से ग्रन्थों का जो उत्कृष्ट तत्त्व था उसका मैंने संक्षेप किया है जिसका सैकड़ों ग्रन्थों में भी प्रतिपादन करना अशक्य था उसी को छोटे सौ छन्दों (कारिकाओं) के परिमाण को लेकर बताया गया है। इससे प्रतिभाकौशल व्यक्त होता है। किस तरह के मेरे द्वारा ? 'शिवचरणों के स्मरण से दीप्त' के द्वारा। शिव अर्थात् परम कल्याण स्वरूप आत्मस्थ चिदानन्द स्वभाव के जो चरण अर्थात् चेतना की रश्मियां उनका स्मरण अर्थात् शब्दादिविषयों को ग्रहण करते समय परिशीलन या प्रतिक्षण आत्मानुभव का लोप न होना, उससे 'दीप्त' अर्थात् पूर्ण अहन्ता के प्रकाश से प्रकाशित इसीलिये कीर्तनीय नाम वाले द्वारा। अन्यथा देहादि में आत्मा का अभिमान करने वाले स्वात्ममहेश्वर के स्वरूप को न पहिचानने वाले का इतने महान् अर्थ वाले उपदेश में किस प्रकार कर्तृत्व का अधिकार हो सकता है ? क्योंकि जो जिस स्वभाव का होता है वही उस स्वभाव का विवेचन कर पाता है अतः उपदेष्टृ (अभिनवगुप्त) महेश्वर स्वभाव में समाविष्ट है यह इस वाक्य से बताया गया है।

सद्गुरु और आम्नायशाली महेश्वर का साक्षात् कर लेने वाले श्री क्षेमराज के शिष्य, वितस्ता पुरी में रहनेवाले विरक्त तपस्वी, योग नाम वाले मैंने पूर्ण अद्वयमयी विवृति बनाई है।

परममाहेश्वर पूज्य श्रीयोगराज राजानक की
परमार्थसार की यह विवृति समाप्त हुई॥

परिशिष्ट—क

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत-हिंदी ग्रंथ

अनुत्तराष्टिका, अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी-अभिनवगुप्त एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसफीकल स्टडी, डा०पांडेय,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६३

अनुभवनिवेदन स्तोत्र--

ईशादिदशोपनिषद् —श्री शंकराचार्यग्रंथावलिः, भाग १, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली: १९६४

ईश्वरसिद्धि, उत्पलाचार्य

उड्डामेश्वर तन्त्र,

उपनिषद्-वाक्यकोशः, G.A, Jacob, Motilal Banarsidass, Delhi 1953

क्रमकेलि, अभिनवगुप्त

क्रमस्तोत्र, अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी, एन हिस्टो० एण्ड० फिलो० स्टेडी--डा० पांडेय

कामकलाविलास, —पुण्यानन्द

'काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी' —डा० भँवरलाल जोशी, चौखम्बाप्रकाशन, प्रथमसंस्करण १९६८

गुरुनाथपरामर्श, मधुराज, (काश्मीर रिसर्च, बाई-एनुवल भाग १ नं० १)

घटकर्परकुलक विवृति, अभिनवगुप्त

'जपसूत्रम्' --प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, १९६६

ज्ञानार्णव, आनन्दाश्रम, पूना, १९१२

तत्त्वार्थचिंतामणि, कल्लट, (शिवसूत्र पर वृत्ति)

'तंत्रसार' सं०म०म०श्रीकृष्णानंदवागीशभट्टाचार्य चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,बनारस,नवम्बर १९३८

तंत्रसार, अभिनवगुप्त, सं०म०म० मुकुन्दराम शास्त्री, बम्बई, १९१८

तंत्रालोक	१-१२-अभिनवगुप्त, टीका-जयरथ सं०-मधुसूदन कौल काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलिः,
	वोलियम प्रथम १९१८
	,, द्वितीय १९२१
	,, तृतीय १९२१
	,, चतुर्थ १९२२
	,, पंचम एवं छटा १९२२
	,, सातवां १९२४
	,, आठवां १९२६
	,, नवां १९३८
	,, दसवां १९३३
	,, ग्यारह १९३६
	,, बारह १९३८
तंत्रोच्चय,	अभिनवगुप्त
तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त-- दृष्टि	—गोपीनाथ कविराज बिहार, राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, प्रथमावृत्ति, १९६३
देवीनामविलास,	साहिब्कौल,
देशोपदेश और नर्ममाला,	--क्षेमेन्द्र, सं०-मधुसूदन कौल, रिसर्च डिपार्टमेन्ट, श्रीनगर, १९२३
देहस्थदेवतास्तोत्र	अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी-अभिनवगुप्तः एन हिस्टो० एण्ड० फिलो० स्टडी
नेत्रतंत्र, भाग १,२	उद्योत टीका—क्षेमराज
न्याय बिन्दु	—धर्मकीर्ति, टीका-'धर्मोत्तरप्रदीप'-धर्मोत्तर, सं०-चन्द्रशेखर शास्त्री, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा सं० सीरीज, बनारस, १९५४
पर्यन्तपञ्चाशिका,	सं०-डा०वी०राघवन, मद्रास, १९५१
परमार्थचर्चा,	अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी, अभिनवगुप्तः एन हिस्टो एण्डफिलो०स्टेडी-पाण्डेय
परमार्थद्वादशिका,	अभि० गु० अपेन्डिक्स-सी, अभि०गु० : एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टेडी, —डा० पांडेय

'परमार्थसार' आदिशेष, विवरण, राघवानन्द, सं०-त० गणपति शास्त्री, अनन्तशयनसंस्कृत ग्रन्थावलिः १२, त्रिवेन्द्रम् ॥ ९ ॥

'परमार्थसार' अभिनवगुप्त (योगराजकृत विवृत्ति सहित) काश्मीर ग्रन्थावलिः ७, श्रीनगर, १९१६.

'परमार्थसार' (मूल सं० ग्रन्थ तथा फ्रेन्च अनुवाद) Lilian Silburn, De Lintitut De civilisation indenne, Parise, 1957

परमार्थसार —सूर्यनारायण शुक्ल, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस

'परात्रिशिकातात्पर्य—दीपिका' —सोमानन्द सं० जे० डी० जाड् (पं० जगधर) शोधविभाग, श्रीनगर, १९४७

परात्रिंशिकालघुवृत्ति और परात्रिंशिका-विवृति संपादक-जे० डी० जाड् का० सं० ग्रन्थावलिः, सं० ६८-६९ शोधविभाग, श्रीनगर, १९४७

'पूर्णताप्रत्यभिज्ञा' —रामेश्वर झा, कामेश्वर झा, नित्यानन्द संस्कृत विद्यालय, दरभंगा, वि० सं० २०१७

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' क्षेमराज, अंग्रेजी अनु० जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' अनु०-विशाल प्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, १९६९

'प्रमाणवार्तिक' धर्मकीर्ति विवृति मनोरथनन्दि, सं० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८

'बोधपञ्चदशिका' और 'परमार्थचर्चा' सं०—पं० जगधर, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि : १९४७

'बौद्धदर्शनमीमांसा' पं० बलदेव उपाध्याय चौखम्बा, द्वितीय संस्करण १९५४

'ब्रह्मसूत्र-शंकर भाष्य' (तृ० संस्करण) नि०सा० प्रेस, बम्बई १९४८

भगवद्गीता' टी० राजानक रामकण्ठ, सं० मधुसूदन कौल, काश्मीर सं० ग्रन्थावलिः ६४,१९४३

'भारतीय दर्शन' उमेशमिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९७०

भारतीय-दर्शन बलदेव उपाध्याय (तृ० सं०) शारदामन्दिर, बनारस, १९४८

'भारतीय संस्कृति और साधना' गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९६३

'भास्करी' भा० १-२ सं० अय्यर एवं पाण्डेय, प्रिन्स आफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स नं० ७०,८३ इलाहाबाद, १९३८,१९५०

भैरवस्तव, अभिनवगुप्त अपेन्डिक्स-सी, अभि० गुप्त : एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टेडी-डा० पाण्डेय

'मनुस्मृति' सं०-सत्यभूषणयोगी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६

महानयप्रकाश, शितिकण्ठ, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, का० सं० ग्र० १९१८

'महार्थ मंजरी' महेश्वरानन्द, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलिः, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, १९१८

महापदेशविंशतिक, अभिनवगुप्त,अपेन्डिक्स-सी, अभिनवगुप्त : एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टेडी

'माण्डूक्यकारिका' गौडपाद, शांकर भाष्य, प्रवचन-स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई।

'मालिनीविजयवार्तिक' अभिनवगुप्त, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री काश्मीर सं०-ग्रन्थावलि : १९३४

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, प्रकाशक-रिसर्च डिपार्टमेन्ट जम्मू काश्मीर स्टेट, श्रीनगर,

'मृगेन्द्रतंत्रम्' टीका-नारायणकण्ठ सं०-म०सू० कौल का०सं० ग्रं०, १९३०

युक्तिदीपिका, सं० रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७।

वाक्यपदीय, टीका-पुण्यराज और हेलाराज० बनारस संस्कृत ग्रन्थावलि०

'वातूलनाथ सूत्राणि' वृत्ति-अनन्तशक्ति अनु०
Lilian Silburn, De L'institut De civilisation Indienne, Paris. 1959

'वामकेश्वरीमतम्' टीका-जयरथ सं० मधुसूदनकौल का० सं० ग्रं० १९४५

'विज्ञप्तिमात्रासिद्धि' वसुबन्धु (सं० तथा अनु० डा० महेश तिवारी,) चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६७

विज्ञान भैरव, (मूल फ्रेंच-अनुवाद तथा टीका)

'विज्ञान भैरव' व्या०क्षेमराज-शिवोपाध्याय सं० मुकुन्दराम शास्त्री का० सं० ग्रं० १९१८

'वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत' --रामकृष्ण गोपाल, भाण्डारकर अनु० महेश्वरीप्रसाद, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९६७

रहस्यपंचदशिका, अभिनवगुप्त अपेन्डिक्स-सी, अभि० गुप्त: एन हिस्टो० एण्ड फिलो० स्टडी, डा० पांडेय

'लघुस्तवचर्चास्तवौ' व्या०-हरिभट्ट, सं० दीनानाथ-शास्त्री, ओरियन्टल, रिचर्स एण्ड पब्लिकेशन डिपार्टमेण्ट' जम्बू एण्ड काश्मीर श्रीनगर, १९६३

'लोकप्रकाश' क्षेमराज सं०-जगधर जाड् शोधविभाग, श्रीनगर, १९४७

'शारदातिलकम्' लक्ष्मणदेशिकेन्द्र व्या०-राघव भट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, १९६३

'शिवदृष्टि' सोमानन्द विवृति, उत्पलदेव, सं० मधुसूदन कौल का०सं०ग्र० १९३४

'शिवस्तोत्रावली' उत्पल, विवृति, क्षेमराज, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो वाराणसी १९०३

'शिवसूत्रवार्तिकम्' वरदराज, सं० मधुसूदन कौल का० सं० ग्रं० १९२५

शिवसूत्रविमर्शिनी टी० क्षेमराज अंग्रेजी अनुवाद-श्रीनिवास अय्यंगर

शैवदर्शन बिन्दुः डा० के०सी० पाण्डेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

'शैवपरिभाषा'	शिवाग्रयोगीन्द्रज्ञानशिवाचार्य, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट पब्लिकेशन, मैसूर युनिवर्सिटी १९५०
'शैव मत'	डा० यदुवंशी पटना
श्वेताश्वतरोपनिषद्,	गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २०१६
सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि ५१ पूना १९६६
सांख्यकारिका,	ईश्वरकृष्ण, व्या० व्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली ११६९
श्रीसिद्धमहारहस्यम्,	अमृतवाग्वैभव, प्राप्तिस्थान श्री गोविन्द मिश्र, चौबुर्जा भरतपुर
षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह	राजानक आनन्द सं० मुकुन्दराम शास्त्री का० सं० ग्रं० १९१८
'सर्वदर्शन संग्रह'	माधवाचार्य हिन्दी अनु० व्याख्या-उमाशंकरशर्मा प्रथम संस्करण चौखम्बा विद्याभवन, १९६४
सर्वदर्शन संग्रह	अभ्यंकर संस्करण– सं० म०म० वासुदेव शास्त्री अ०प्र० अभ्यंकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट पूना
'सर्ववेदान्तसार संग्रह'	पं० श्यामसुन्दर झा प्र०-झा १९५२
'स्तवचिन्तामणि'	भट्टनारायण विवृति क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि १०, श्रीनगर, २९१८
'स्पन्दकारिका'	वसुगुप्त, निर्णय टीका-क्षेमराज सं० एवं अनु० मधुसूदन कौल का०सं० ग्रं० १९२५ विवृति-रामकण्ठ सं० जे०सी० चटर्जी का०सं० ग्रं० १९१३
'स्पन्दसन्दोह'	क्षेमराज, सं० मुकुन्द राम शास्त्री का० सँ० ग्रं० १९१७
'स्वच्छन्दतन्त्र'	उद्योत टी० क्षेमराज सं० मधुसूदन कौल कां० सं० ग्रं० वोलियूम १ १९२१ वोलियूम २ १९२३ " ३ १९२६ " ४ १९२९ " ५ए १९३० " ५बी १९३३ " ६ १९३५

'स्वातन्त्र्यदर्पण	पं० बलजिन्नाथ, ईश्वरकौल, चौक हब्बाकदल, श्रीनगर
सिद्धित्रयी और प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति,	राजानक उत्पलदेव, सं० मधुसूदन कौल का० सं० ग्रं० १९२१
सौन्दर्यलहरी	शंकराचार्य, व्याख्या-लक्ष्मीधर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन, मैसूर १९५३

ENGLISH BOOKS :

Abhinavagupta :	An Historical and Philosophical study—Dr. K.C. Pandey, Chowkhamba, II Editiod, 1963.
Aesthetic Experience According to Abhinavagupta :	Raniro Gnoli, Chowkhamba Sanskrit Series Office Varanasi, 1968.
Ajnana :	Das, Murti and Malakani, Calcutta Oriental Services, 26, 1933.
Bhakti Renaissa nce :	A.K. Majumdar, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1965.
Bhartrahari :	A study of the Vakyapadiya in the light of Ancient Commentaries K. A. Subramania Iyer, Deccan College, Poona-1969
A Constructive Survey of Indian Philosophy :	R.D. Ranade, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay-1968.
The Doctrine of Recognition :	Dr. R. K. Kaw, Hoshiarpur Vishweshwarananda Institute, Publication-1967.
The Foundations of living Faiths Vol. I :	Haridas Bhattacharya, University of Calcutta, 1938.
The Fundamentals of Religion :	N. K. Brahma, University of Calcutta, 1960.
History of Saiva Cults in Northern India :	V. S. Pathak, B 21/18, Kamachchha, Varanasi, 1960.
Indian Philosophy. Vol. 1-2.	Dr. S. Radhakrishnan, London : George Allen and Unwin, New york : Humanities. (Muirhead Library of philosophy) Eighth impression, 1966.
Indian Realism :	D.N. Shastri, Agra University. Agra, 1964
An Idealist ic View of Life :	S. Radhakrishnan, George Allen & Unwin Ltd. London, 1957.

Introduction to comparative Mysticism : Jacques De Marquette, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1965.

An Introduction to Tantric Buddhism : S.B. Dasgupta, University of Calcutta, 1958.

Kasmir Shaivism : J.C. Chatterjee, Research and publication Deptt. Govt. of Jammu and Kasmir, Srinagar, 1962.

Kasmir Trika Philosophy and Culture : Najir and Kaul

Non-Dualism in Saiva and Sakta Philosophy : Nundolal Kundu Sri Bhartiya Jogeshwari Math 1/5 Gour laha street, Calcutta.

Obscure Religious cults. : S. B. Dasgupta, Firma K. L. Mukhopadhyaya, Culcutta, 1952.

Outlines of Indian Philosophy : Hiriyanna.

A Panorama of Indian Philosophy : R.C. Pandeya, Motilal Banarsidass, Delhi, 1966.

The Philosophy of Advaita : T.M.P. Mahadevah, Ganesh & Co. (Madras) Private Ltd., Madras, 1957

Santarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics : J.L. Masson and M. V. Patwardhan, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1969.

Selections from Brahmanas & Upanisads : R.C. Dwivedi, Motilal Banarsidass, Delhi, 1965.

The Six ways of knowing : D.M. Dutta, University of Calcutta 1960.

Tantras : Studies on their Religion and Literature : Chintaharan Chakravarti, Punthi Pustak, Calcutta, 1963

Vedanta and Buddhism : Proceedings of the third All-India Seminar held at the centre of Advanced study in Philosophy, Banaras Hindu University and other papers. Edited by J. L. Mehta 1968.

Vedantasara : Nikhilananda, Advaita Ashram, Calcutta 1942.